www.vitragvani.com

ॐ

परमात्मने नमः

मानव जीवन का महान कर्तव्य

सम्यग्दर्शन

(भाग-4)

परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचनों में से सम्यग्दर्शन सम्बन्धी विभिन्न लेखों का संग्रह

गुजराती संकलन :
ब्रह्मचारी हरिलाल जैन
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

हिन्दी अनुवाद एवं सम्पादन :
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियां, जिला भीलवाड़ा (राज०)

प्रकाशक :
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस.लि., वी.एल. मेहता मार्ग,
विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400056; फोन : (022) 26130820

सह-प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)-364250; फोन : 02846-244334

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

प्रथम संस्करण : 1000 प्रतियाँ

न्यौछावर राशि :

प्राप्ति स्थान :

1. **श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,**
   सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250, फोन : 02846-244334
2. **श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
   302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट),
   मुम्बई-400056, फोन (022) 26130820 Email - vitragva@vsnl.com
3. **श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट (मंगलायतन)**
   अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216 (उ.प्र.)
   फोन : 09997996346, 2410010/11
4. **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,**
   ए-4, बापूनगर, जयपुर, राजस्थान-302015, फोन : (0141) 2707458
5. **पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट,**
   कहान नगर, लाम रोड, देवलाली-422401, फोन : (0253) 2491044
6. **श्री परमागम प्रकाशन समिति**
   श्री परमागम श्रावक ट्रस्ट, सिद्धक्षेत्र, सोनागिरजी, दतिया (म.प्र.)
7. **श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान आध्यात्मिक ट्रस्ट**
   योगी निकेतन प्लाट, 'स्वरुचि' सवाणी होलनी शेरीमां,
   निर्मला कोन्वेन्ट रोड, राजकोट-360007
   फोन : (0281) 2477728, मो. 09374100508

टाईप-सेटिंग : **विवेक कम्प्यूटर्स,** अलीगढ़

मुद्रक :

प्रकाशकीय

यह एक निर्विवाद सत्य है कि विश्व का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है एवं निरन्तर उसी के लिए यत्नशील भी है; तथापि यह भी सत्य है कि अनादि से आज तक के पराश्रित प्रयत्नों में जीव को सुख की उपलब्धि नहीं हुई है।

धार्मिक क्षेत्र में आकर इस जीव ने धर्म के नाम पर प्रचलित अनेक प्रकार के क्रियाकाण्ड-व्रत, तप, नियम, संयम इत्यादि अङ्गीकार करके भी सुख को प्राप्त नहीं किया है। यही कारण है कि वीतरागी जिनेन्द्र परमात्मा की सातिशय वाणी एवं तत्मार्गानुसारी वीतरागी सन्तों की असीम अनुकम्पा से सुखी होने के उपाय के रूप में पर्याप्त दशानिर्देश हुआ है।

वीतरागी परमात्मा ने कहा कि मिथ्यात्व ही एकमात्र दु:ख का मूल कारण है और सम्यग्दर्शन ही दु:ख निवृत्ति का मूल है। मिथ्यात्व अर्थात् प्राप्त शरीर एवं पराश्रित विकारी वृत्तियों में अपनत्व का अभिप्राय /इसके विपरीत, सम्यग्दर्शन अर्थात् निज शुद्ध-ध्रुव चैतन्यसत्ता की स्वानुभवयुक्त प्रतीति।

इस वर्तमान विषमकाल में यह सुख-प्राप्ति का मूलमार्ग प्राय: विलुप्त -सा हो गया था, किन्तु भव्य जीवों के महान भाग्योदय से, वीतरागी प्रभु के लघुनन्दन एवं वीतरागी सन्तों के **परम उपासक अध्यात्ममूर्ति पूज्य सद्गुरुदेवश्री कानजीस्वामी** का इस भारत की वसुधा पर अवतरण हुआ। आपश्री की सातिशय दिव्यवाणी ने भव्य जीवों को झकझोर दिया एवं क्रियाकाण्ड की काली कारा में कैद इस विशुद्ध आध्यात्मिक दर्शन का एक बार पुनरोद्धार किया।

आपश्री की सातिशय अध्यात्मवाणी के पावन प्रवाह को झेलकर उसे रिकार्डिंग किया गया जो आज सी.डी., डी.वी.डी. के रूप में उपलब्ध है। साथ ही आपश्री के प्रवचनों के पुस्तकाकार प्रकाशन भी लाखों की संख्या में उपलब्ध है, जो शाश्वत् सुख का दिग्दर्शन कराने में उत्कृष्ट निमित्तभूत है। इस उपकार हेतु पूज्यश्री के चरणों में कोटिश नमन करते हैं।

इस अवसर पर मुमुक्षु समाज के विशिष्ट उपकारी **प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन** के प्रति अपने अहो भाव व्यक्त करते हुए अत्यन्त प्रसन्नता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद एवं सम्पादन पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियाँ (राज.) द्वारा किया गया है।

जिन भगवन्तों एवं वीतरागी सन्तों के हार्द को स्पष्ट करनेवाले आपके प्रवचन ग्रन्थों की शृंखला में ब्रह्मचारी हरिलाल जैन, सोनगढ़ द्वारा संकलित प्रस्तुत '**मानव-जीवन का महान कर्तव्य-सम्यग्दर्शन भाग-4**' प्रस्तुत करते हुए हम प्रसन्नता का अनुभव कर रहे हैं।

सभी आत्मार्थी इस ग्रन्थ के द्वारा निज हित साधें — यही भावना है।

निवेदक

ट्रस्टीगण,

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई

एवं

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़

निवेदन

विश्व का श्रेष्ठ रत्न और सिद्धि सुख का देनेवाला सम्यग्दर्शन, उस सम्यग्दर्शन के गुणगान गाते हुए और उसकी प्रेरणा देते हुए यह **चौथी** पुस्तक सम्यक्त्व पिपासु साधर्मियों के हाथ में देते हुए आनन्द होता है।

सम्यग्दर्शन ही आत्मा का सच्चा जीवन है। मिथ्यात्व, मरण है और सम्यक्त्व, जीवन है। पर से भिन्न निजस्वरूपसत्ता का अस्तित्व जिसमें नहीं दिखाई देता, ऐसे मिथ्यात्व में प्रतिक्षण भावमरण से जीव दु:खी है और जिसमें अपने स्वरूप का शाश्वत् स्वाधीन उपयोगमय अस्तित्व स्पष्ट वेदन में आता है, ऐसा सम्यक्त्व-जीवन परम सुखमय है। अपने आत्मा का सम्यक्रूप से दर्शन करना, उसे सच्चे स्वरूप से देखना, ऐसा सम्यग्दर्शन हम सभी का कर्तव्य है। समयसारादि शास्त्र भी उसी का बोध प्रदान करते हैं। 'दर्शाऊ एक विभक्त को आत्मातने निज विभव से'—ऐसा कहकर आचार्यदेव ने परद्रव्यों से भिन्न तथा परभावों से भिन्न आत्मा का शुद्ध एकत्वस्वरूप बतलाया है। ऐसे निजस्वरूप को देखना / श्रद्धा करना / अनुभव करना, वह सम्यग्दर्शन है।

स...म्य...ग्द...र्श...न! कैसा आह्लादकारी है! अपने जीवन का यह महान कर्तव्य है... इसका नाम सुनते ही आत्मार्थी को भक्ति से रोमांच उल्लसित हो जाता है। सत्य ही है-अपनी प्रिय में प्रिय वस्तु देखकर किसे हर्ष नहीं होगा! हजारों शास्त्रों में हजारों श्लोकों द्वारा जिसकी अचिन्त्य महिमा का वर्णन किया है-ऐसे सम्यग्दर्शन की क्या बात! - ऐसा सम्यग्दर्शन साक्षात् देखने को मिले तो कैसी आनन्द की बात! इस काल में गुरुदेव के प्रताप से ऐसा सम्यग्दर्शन साक्षात् देखने को मिलता है क्योंकि भावनिक्षेप से सम्यक्परिणत जीव वे स्वयं ही सम्यग्दर्शन हैं।

इसलिए ऐसे समकिती जीव वे स्वयं ही सम्यग्दर्शन हैं। इसलिए ऐसे समकिती जीवों का दर्शन वह साक्षात् सम्यग्दर्शन का ही दर्शन है उनकी उपासना वह सम्यग्दर्शन की ही उपासना है, उनका विनय-बहुमान-भक्ति वह सम्यक्त्व का ही विनय-बहुमान-भक्ति है। अपने सौभाग्य से अपने को अभी सम्यक्त्व के आराधक जीवों की सत्संगति का और उनकी उपासना का सुअवसर प्राप्त हुआ है। पूज्य गुरुदेव, भव्य जीवों को सम्यग्दर्शन का स्वरूप समझा रहे हैं। आपश्री की मंगलकारी चरणछाया में रहकर सम्यग्दर्शन की परम महिमा का श्रवण और उसकी प्राप्ति के उपाय का श्रवण-मन्थन करना वह मानव जीवन की कृतार्थता है। जिसे सम्यग्दर्शन प्रगट करके इस असार संसार के जन्म-मरण से छूटना हो और फिर से नव माह की गर्भ जेल में न आना हो, उसे सत्समागम के सेवनपूर्वक आत्मरस से सम्यग्दर्शन का अभ्यास करना चाहिए।

पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों / चर्चाओं तथा शास्त्रों में से दोहन करके सम्यग्दर्शन सम्बन्धी दस पुस्तकों का संकलन करने की योजना है; उसमें से यह चौथी पुस्तक प्रकाशित हो रही है। जीवों को सम्यक्त्व की महिमा समझ में आये और उसे प्राप्त करने की प्रेरणा जागृत हो, यह इस पुस्तक का उद्देश्य है। जिन मुमुक्षुओं ने यह पुस्तक प्रसिद्ध करके जिज्ञासुओं को भेंट प्रदान की है... और इस प्रकार सम्यग्दर्शन के प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित की है, उन मुमुक्षुओं को धन्यवाद है।

इस सम्यग्दर्शन का संकलन करते समय जागृत हुई भावनायें मेरी आत्म-परिणति में भी सम्यक्त्व का संकलन करो... और सम्यक्त्व की महिमा जगत में सर्वत्र व्याप्त हो... यही भावना।

पौष पूर्णिमा — **ब्रह्मचारी हरिलाल जैन**

संवत् २९४७, सोनगढ़

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 - ईस्वी) प्रात:काल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के ह्रार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्राय: प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका

व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक - इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और

हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तवन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको नि:शंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। अत: अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते-करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का श्रावक हूँ।** सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अत: भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल **'श्री जैन स्वाध्याय**

मन्दिर' का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ।

स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर, पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य

से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980)

वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार

से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

❖ एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता। ❖ प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है। ❖ उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं। ❖ उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है। ❖ पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं। ❖ भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती। ❖ भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है। ❖ चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है। ❖ स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है। ❖ ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖ ❖ ❖

अनुक्रमणिका

लेख	पृष्ठ
सिद्धप्रभुजी ! आओ दिल में.....	१
सम्यक्त्व का पहला पाठ.....	२
धर्म की कमाई का अवसर.....	३
आचार्यदेव अप्रतिबुद्ध जीव को आत्मा.....	८
आत्मकल्याण की अद्‌भुत प्रेरणा.....	१६
हे जीव ! तेरे आत्महित के लिये तू शीघ्रता.....	२३
सम्यग्दर्शन के लिये अरिहन्तदेव को पहिचानो.....	२५
गुण प्रमोद अतिशय रहे रहे अन्तर्मुख योग.....	४१
अनुभव का.... उपदेश.....	४५
अरिहन्त भगवान को पहचानो (2).....	४८
राम को प्रिय चन्द्रमा.....	६३
.....साधक को प्रिय सिद्ध.....	६४
हे जीव ! तू स्वद्रव्य को जान.....	६५
सन्त बतलाते हैं..... रत्नों की खान.....	६९
वैराग्य सम्बोधन.....	७२
चेत... चेत... जीव चेत !.....	७५
सम्यक्त्व के लिये आनन्ददायी बात.....	७९
हे जीव ! प्रज्ञा द्वारा मोक्षपंथ में आ !.....	८६
स्वानुभव के चिह्नरूप ज्ञानचेतना ज्ञानी.....	९७
धर्मात्मा की ज्ञानचेतना.....	९९
वास्तविक ज्ञायक वीर.....	१०४
समयसार के श्रोता को.... आशीर्वाद.....	१०६
तीन रत्नों की कीमत समझिये.....	१०७

लेख	पृष्ठ
एक अद्‌भुत वैराग्य चर्चा.....	१०९
हे वीरजननी ! पुत्र तेरा जाता है मोक्षधाम में,.....	११३
मृत्यु महोत्सव.....	११५
शान्तिदातार सन्त वाणी.....	११७
निरन्तर... भानेयोग्य.... भावना.....	१२२
सम्यक्त्व सूर्य.....	१२४
१. सम्यग्दृष्टि का नि:शङ्कित अङ्ग.....	१२६
२. सम्यग्दृष्टि का नि:कांक्षित अङ्ग.....	१२८
३. सम्यग्दृष्टि का निर्विचिकित्सा अङ्ग.....	१३०
४. सम्यग्दृष्टि का अमूढ़दृष्टि अङ्ग.....	१३२
५. सम्यग्दृष्टि का उपगूहन अङ्ग.....	१३४
६. सम्यग्दृष्टि का स्थितिकरण अङ्ग.....	१३७
७. सम्यग्दृष्टि का वात्सल्य अङ्ग.....	१३९
८. सम्यग्दृष्टि का प्रभावना अङ्ग.....	१४३
सम्यग्दर्शन के आठ अङ्गों की कथाएँ.....	१४६
१. नि:शङ्कित-अङ्ग में प्रसिद्ध अञ्जनचोर की कथा.....	१४७
२. नि:कांक्षित-अङ्ग में प्रसिद्ध अनन्तमती की कथा.....	१५२
३. निर्विचिकित्सा-अङ्ग में प्रसिद्ध उदायन राजा की कथा.....	१६०
४. अमूढ़दृष्टि-अङ्ग में प्रसिद्ध रेवतीरानी की कथा.....	१६३
५. उपगूहन-अङ्ग में प्रसिद्ध जिनेद्रभक्त सेठ की कथा.....	१७०
६. स्थितिकरण-अङ्ग में प्रसिद्ध वारिषेण मुनि की कथा.....	१७४
७. वात्सल्य- अङ्ग में प्रसिद्ध विष्णकुमार मुनि की कथा.....	१८०
८. प्रभावना - अङ्ग में प्रसिद्ध वज्रकुमार मुनि की कथा.....	१८७

ॐ

परमात्मने नमः

मानव जीवन का महान कर्त्तव्य

सम्यग्दर्शन

(भाग-4)

सिद्धप्रभुजी! आओ दिल में....

सम्यक्त्व की आराधना का जो परम मङ्गल महोत्सव, उसके प्रारम्भ में, हे सिद्ध भगवन्तों! आप मेरे अन्तर में पधारो... सम्यक्त्व के ध्येयरूप जो शुद्ध आत्मा, उसके प्रतिबिम्बस्वरूप ऐसे हे सिद्ध भगवन्तों! स्वसंवेदनरूप भक्तिपूर्वक मैं आपको मेरे आत्मा में विराजमान करता हूँ... आपके जैसे शुद्धात्मा को ही मेरे साध्यरूप स्थापित करके, उसका मैं आदर करता हूँ और अन्य समस्त परभावों का आदर छोड़ता हूँ। इस प्रकार आपको मेरे आत्मा में स्थापित करके, मैं सम्यक्त्वरूप साधकभाव का अपूर्व प्रारम्भ करता हूँ। उसमें हे सिद्धभगवन्तों! हे पञ्च परमेष्ठी भगवन्तों! आप पधारो... पधारो... पधारो...!

आत्मा का रङ्ग लगाकर, मैं मेरे सम्यक्त्व की आराधना के लिये तत्पर हुआ हूँ; उसमें मङ्गल में, सिद्धभगवान-समान आत्मस्वरूप पहचानकर सम्यक्त्व की आराधना में हे सन्त गुरुओं! आपको उत्तम आत्मभाव से नमस्कार करता हूँ। ●

www.vitragvani.com

सम्यक्त्व का पहला पाठ

सिद्धपद का साधक जीव, मङ्गलाचरण के पहले ही पाठ में कहता है कि अहो शुद्धात्मस्वरूप को प्राप्त सिद्धभगवन्तों! जैसे आप, वैसा मैं... 'तुम सिद्ध... मैं भी सिद्ध'—ऐसे आपके समान मेरे शुद्धस्वरूप को लक्ष्य में लेकर नमस्कार करता हूँ, उल्लासपूर्वक मेरे आत्मा में सिद्धपना स्थापित करता हूँ। इस प्रकार सिद्धस्वरूप के ध्येय से मेरा साधकभाव शुरु होता है।

इस प्रकार समयसार के पहले ही पाठ में आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीव! तेरे आत्मा में तू सिद्धपना स्थापित कर। 'जैसा सिद्ध वैसा मैं'—ऐसे लक्ष्यपूर्वक निजस्वरूप को ध्याने से महा आनन्दसहित तुझे सम्यग्दर्शन होगा। ●

www.vitragvani.com

धर्म की कमाई का अवसर

*आत्मा का अनुभव करके मोक्ष की साधना का यह मौसम है। श्रीगुरु-सन्तों के प्रताप से सम्यग्दर्शनरूपी महारत्न प्राप्त हो और अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द का लाभ हो - ऐसा यह अवसर है। **यह धर्म की कमाई का अवसर है...** उसे हे जीव! तू चूक मत... प्रमाद मत कर... अन्यत्र मत रुक।*

अरे! ऐसा मनुष्यपना और सत्यधर्म के श्रवण का एक-एक क्षण महामूल्यवान है, अरबों रत्न देने पर भी ऐसा एक क्षण प्राप्त होना कठिन है। भगवान! ऐसा मनुष्यभव तू बाहर के व्यापार में व्यतीत करता है, उसके बदले आत्मा के लाभ का व्यापार कर... उपयोग को अन्तर्मुख करके आत्मा का ग्राहक हो... पर का ग्रहण माना है, उसे छोड़ दे और आत्मा का ग्राहक शीघ्रता से हो। उसमें एक क्षण का प्रमाद भी मत कर! एक क्षण की कमाई से तुझे अनन्त काल का सिद्ध-सुख प्राप्त होगा।

भाई! यह मनुष्यभव का अल्प काल तो आत्महित का मौसम है, धर्म की कमाई का यह अवसर है। इसमें जिसने धर्म की कमाई नहीं की, अर्थात् भव-भ्रमण के नाश का और मोक्षसुख की प्राप्ति का उपाय जिसने नहीं किया, उसके मनुष्यपने को धिक्कार है।

अरे जीव! परद्रव्य के ग्रहण की बुद्धि से तो तू संसार के दुःख में पिल रहा है। इसलिए पर का ग्राहकपना तू शीघ्रता से छोड़ और शीघ्रता से स्वद्रव्य का ग्राहक हो। अरे! तूने आत्मा को भूलकर अनन्त काल से भव -भ्रमण किया है... अब तो स्व-पर की

www.vitragvani.com

भिन्नता को जानकर, तू अपने आत्मा को भव-भ्रमण से बचा.... शीघ्रता से स्वद्रव्य का रक्षक हो और परद्रव्य का रक्षकपना छोड़ दे।

हे जीव! स्वद्रव्य को पर से अत्यन्त भिन्न जानकर शीघ्रता से तू स्वद्रव्य का रक्षक हो... व्यापक हो... धारक हो... रमक हो... ग्राहक हो... परभाव से सर्व प्रकार से विरक्त हो।

बाहर के परभाव की रमणता छोड़... और स्वद्रव्य में रमणता कर। 'राणा! क्रीड़ा छोड़... सेना आयी किनारे...' यह तेरे जीवन का किनारा नजदीक आया है; इसलिए तू राग की रमणता शीघ्रता से छोड़ दे और रमने योग्य चैतन्यधाम में शीघ्र रमणता कर।

❋ वीतरागरस का प्रवाह ❋

अहो! यह तो वीतरागमार्ग का प्रवाह है। इसमें अकेला वीतरागरस भरा है। भगवान के पास से यह वीतरागरस का प्रवाह आया है। इस वीतरागरस के समक्ष धर्मी को इन्द्र का इन्द्रासन भी नीरस लगता है। अपूर्व आनन्दरस की धारा आत्मा में से बहती है, उसका लक्ष्य तो करो! आत्मा के स्वभाव की ऐसी बात सुनकर उसका बहुमान करनेवाले भी महाभाग्यशाली हैं और जिन्होंने ऐसा आत्मा लक्ष्य में लिया, वे समस्त परभावों से विरक्त होकर परम अतीन्द्रिय आनन्द को प्राप्त करते हैं। जिसे इन्द्रिय के अवलम्बनवाला ज्ञान भी नहीं जान सकता – ऐसे भगवान आत्मा का ग्राहक होकर परभाव का ग्रहण छोड़! जहाँ इन्द्रियज्ञान भी मेरा स्वरूप नहीं है, वहाँ अन्य रागादि परभावों की अथवा इन्द्रियों की क्या बात? इस प्रकार परभावों से भिन्न होकर, आत्मा को ग्रहण कर... तो तेरी पर्याय में परम आनन्द से भरपूर वीतरागरस का प्रवाह बहेगा।

www.vitragvani.com

❋ चैतन्य हीरा से भरपूर विशाल पहाड़ ❋

आत्मा तो चैतन्य हीरों का महापर्वत है, उसे खोदने से उसमें से तो सम्यग्दर्शन, और केवलज्ञानादि हीरे निकलते हैं, उसमें से रागादि नहीं निकलते – ऐसे चैतन्य हीरे का पहाड़ खुला करके सन्त तुझे बतलाते हैं। भाई! तुझमें भरी हुई इस चैतन्य हीरे की खान को जरा खोलकर देख तो सही! अहो! आत्मा तो अनन्त गुण के चैतन्य हीरों से भरा हुआ महान पर्वत है, उसे खोलकर देखने से उसमें अकेले केवलज्ञानादि हीरे ही भरे हैं। ऐसे आत्मा को लक्ष्य में तो लो! उसका थोड़ा-सा भाग खुला करके नमूना बतलाया तो ऐसे अपने सम्पूर्ण आत्मा को लक्ष्य में लेकर उसकी परम महिमा करो।

अपना या पर का आत्मा, इन्द्रियों से ज्ञात नहीं हो सकता। अपने आत्मा को जिसने स्वसंवेदन से प्रत्यक्ष किया है, वही दूसरे आत्मा का सच्चा अनुमान कर सकता है। जिसने अपने आत्मा को अनुभव में नहीं लिया, वह दूसरे धर्मात्माओं को भी नहीं पहचान सकता। प्रत्यक्षपूर्वक का अनुमान ही सच्चा होता है; प्रत्यक्ष के बिना अकेला अनुमान सच्चा नहीं है।

स्वसन्मुख होकर आत्मा को प्रत्यक्ष किये बिना जीव ने बाहर का ज्ञान अनन्त बार किया और उसमें सन्तोष मान लिया। अरे! आत्मा की प्रत्यक्षता के बिना का ज्ञान, वह वास्तव में ज्ञान ही नहीं है; इसलिए जहाँ तक मेरा आत्मा मुझे प्रत्यक्ष नहीं होता, तब तक मैंने वास्तव में कुछ जाना ही नहीं। इस प्रकार जब तक जीव को अपना अज्ञानपना भासित नहीं होता और दूसरे परलक्ष्यी ज्ञान में

www.vitragvani.com

अपनी अधिकता मानकर सन्तुष्ट हो जाता है, तब तक आत्मा का सच्चा मार्ग जीव को हाथ में नहीं आता। अन्तर में परमस्वभाव से भरपूर भगवान आत्मा के सन्मुख होने से ही परमतत्त्व की प्राप्ति होती है और मोक्षमार्ग हाथ में आता है।

❋ सन्त कहते हैं : तू भगवान है ❋

भाई! तूने आत्मा के सन्मुख देखे बिना, अर्थात् स्वसंवेदन प्रत्यक्ष किये बिना, अज्ञानदशा के उत्कृष्ट शुभभाव भी किये हैं; ग्यारह अंग का ज्ञान भी किया है परन्तु उससे आत्मा के कल्याण का मार्ग किञ्चित्मात्र भी तेरे हाथ में नहीं आया है। इसलिए ज्ञान को परविषयों से भिन्न करके स्वविषय में जोड़! इन्द्रियज्ञान के व्यापार में ऐसी सामर्थ्य नहीं है कि आत्मा को स्व -विषय बनाकर जान ले। तू परमात्मा, तुझे स्वयं अपना ज्ञान करने के लिए इन्द्रियों के या राग के समक्ष भीख माँगनी पड़े - ऐसा भिखारी तू नहीं है। आहा...हा...! सन्त कहते हैं कि तू भिखारी नहीं, अपितु भगवान है।

अज्ञानियों के अनुमान में आ जाए - ऐसा यह आत्मा नहीं है। अकेले परज्ञेय को अवलम्बन करनेवाला ज्ञान, वह अज्ञान है; वह ज्ञान नहीं है। ज्ञान का भण्डार आत्मा स्वयं अपने ज्ञानस्वभाव का अवलम्बन करके जिस ज्ञानरूप परिणमित होता है, वही ज्ञान, मोक्ष को साधनेवाला है।

इस शरीर को घट कहा जाता है, यह घट की तरह क्षणिक / नाशवान है। यह घट और घट को जाननेवाला दोनों एक नहीं किन्तु पृथक् हैं। शरीर के अंगभूत इन्द्रियाँ, वह कहीं आत्मा के ज्ञान की उत्पत्ति का साधन नहीं है। आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञानस्वभावी है, उसे

www.vitragvani.com

साधन बनाकर जो ज्ञान होता है, वही आत्मा को जाननेवाला है। पुण्य-पाप भी उसका स्वरूप नहीं है। अतीन्द्रियज्ञान ऐसा नहीं है कि पुण्य-पाप की रचना करे। राग की रचना, आत्मा का कार्य नहीं है; आत्मा का वास्तविक कार्य, अर्थात् परमार्थ लक्षण को अतीन्द्रिय ज्ञानचेतना है। उस चेतनास्वरूप से अनुभव में लेते ही आत्मा सच्चे स्वरूप से अनुभव में आता है - ऐसे आत्मा को अनुभव में लेने पर ही जीव को धर्म होता है।

आत्मा स्वयं उपयोगस्वरूप है, उसे पर का अवलम्बन नहीं है। वह बाहर से उपयोग को नहीं लाता है। अन्तर की एकाग्रता द्वारा जो उपयोग काम करता है, वही आत्मा का स्वलक्षण है। ऐसे अतीन्द्रियज्ञान का स्वामी भगवान अशरीरी आत्मा, अपने को भूलकर शरीर धारण कर-करके भव में भटके - यह तो शर्मजनक है, यह कलंक आत्मा को शोभा नहीं देता है। बापू! तू अशरीरी चैतन्य भगवान... तेरा चैतन्य उपयोग शरीर में से, इन्द्रियों में से अथवा राग में से नहीं आता। जिसने ऐसे आत्मा के संस्कार अन्दर में डाले होंगे, उसे परभव में भी वे संस्कार साथ रहेंगे। इसलिए बारम्बार अभ्यास करके ऐसे आत्मस्वभाव के संस्कार अन्दर में दृढ़ करने योग्य हैं। बाहर की पढ़ाई से वह ज्ञान नहीं आता है, वह तो अन्तर के स्वभाव से ही खिलता है। अन्तर में स्वभाव के घोलन के संस्कार बारम्बार अत्यन्त दृढ़ करने पर वह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है, अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होता है, वही धर्म की सच्ची कमाई है और यह ऐसी धर्म की कमाई का अवसर है। ●

www.vitragvani.com

आचार्यदेव अप्रतिबुद्ध जीव को
आत्मा का स्वरूप बतलाते हैं

हे भाई! जड़ से भिन्न तेरा चैतन्यतत्त्व हमने तुझे बतलाया, वह जानकर अब तू प्रसन्न हो... सावधान हो और चेतनस्वरूप आत्मा को ही तेरे स्वद्रव्य के रूप में अनुभव कर।

(1)

जिसे देह से भिन्न चैतन्यस्वरूप आत्मा की खबर नहीं है और अज्ञानभाव से 'शरीर ही मैं हूँ, शरीर के कार्य मुझसे होते हैं' – ऐसा जो मान रहा है, उस मूढ़ जीव को आचार्यदेव करुणापूर्वक समझाते हैं कि अरे मूढ़! तेरा आत्मा सदैव चैतन्यरूप है; वह चैतन्यस्वरूप आत्मा, जड़ कहाँ से हो गया, जो तू जड़ को अपना मानता है? तेरा आत्मा तो सदैव चैतन्यरूप ही है, वह कभी जड़रूप नहीं हुआ है; चैतन्यस्वरूप आत्मा का कभी जड़ के साथ एकत्व नहीं हुआ है, सदैव भिन्नत्व ही है; इसलिए हे भाई! अब तू जड़ के साथ एकत्व की मान्यता छोड़ और अपने चैतन्यस्वरूप आत्मा को देख। तेरे आत्मा का विलास जड़ से भिन्न चैतन्यस्वरूप है। ऐसे चैतन्यविलास से एक आत्मा को ही तू स्वतत्त्वरूप से देख।

(2)

यह बात किसे समझाते हैं? – जो अनादि से धर्म का बिल्कुल अनभिज्ञ है, जिसे शरीर से भिन्न आत्मतत्त्व की खबर नहीं है – ऐसे अज्ञानी को यह बात समझाते हैं। वह जीव, अज्ञानी होने पर भी आत्मा का स्वरूप समझने का कामी है – जिज्ञासु है और

www.vitragvani.com

विनयपूर्वक यह बात सुनने के लिए खड़ा है, इसलिए वह आत्मा को समझने की पात्रतावाला है, इसी कारण आचार्यदेव जिस प्रकार समझायेंगे, उसी प्रकार वह समझ जाएगा।

(3)

भाई रे! अब तू सावधान हो और अपने चैतन्यस्वरूप को सम्हाल! अभी तक तो अज्ञान के कारण जड़-चेतन की एकता मानकर तूने भव-भ्रमण किया, किन्तु तुझे जड़ से भिन्न तेरा शुद्ध चैतन्यस्वरूप बतलाते हैं, उसे जानकर तू सावधान हो। सावधान होकर ऐसा जान कि अहो! मैं तो चैतन्यस्वरूप आत्मा हूँ। पूर्व काल में भी मैं चैतन्यस्वरूप था। जड़ शरीर मुझसे सदैव अत्यन्त भिन्न है; मेरा चैतन्यस्वरूप, जड़ से भिन्न रहा है - ऐसे अपने चैतन्यस्वरूप को जानकर तू प्रसन्न हो... आनन्द में आ! अपने चैतन्यस्वरूप को पहिचानते ही तुझे अन्तर में अपूर्व प्रसन्नता और आनन्द होगा। 'मैं चैतन्य परमेश्वर हूँ, जैसे परमात्मा हैं, वैसा ही मेरा स्वरूप है; मेरा स्वरूप कुछ बिगड़ा नहीं है' - ऐसा समझकर, अपना चित्त उज्ज्वल कर... हृदय को उज्ज्वल कर... प्रसन्न हो और आह्लाद कर कि अहो! ऐसा मेरा आनन्दघन चैतन्यभावस्वरूप!

भाई! ऐसा अनुभव करने से तेरा अनादि का मिथ्यात्व दूर हो जाएगा और भव-भ्रमण का अन्त आ जाएगा।

(4)

आत्मा चैतन्यस्वरूप है और रागादिभाव तो बन्धस्वरूप हैं। हे भाई! तेरे आत्मा को बन्धन की उपाधि की अति निकटता होने पर भी, बन्ध के साथ एकरूपता नहीं है; रागादिभाव तेरे चैतन्यस्वरूप

www.vitragvani.com

भावरूप नहीं हो गये हैं। ज्ञान को और राग को ज्ञेय-ज्ञायकपना है और एकक्षेत्रावगाहपना है, किन्तु उनके एकत्व नहीं है; ज्ञान और राग का स्वभाव भिन्न-भिन्न है। ऐसा होने पर भी जो जीव, ज्ञान और राग की एकमेकरूप मान रहा है, उससे आचार्यदेव कहते हैं कि अरे दुरात्मा! हाथी इत्यादि पशु जैसे स्वभाव को तू छोड़-छोड़! जिस प्रकार हाथी, लड्डू और घास के स्वाद का विवेक किये बिना उन दोनों को एकमेक करके खाता है, उसी प्रकार तू भी जड़ और चेतन का विवेक किये बिना दोनों का एकरूप अनुभव करता है - उसे अब तू छोड़ और परम विवेक से भेदज्ञान करके अपने चैतन्यस्वरूप आत्मा को जड़ से और विकार से अत्यन्त भिन्न जान!

यहाँ 'हे दुरात्मा!' - ऐसा कहा, उसका अर्थ यह है कि अरे भाई! चैतन्यस्वरूप से च्युत होकर जड़स्वरूप को अपना माननेरूप जो मिथ्यात्वभाव है, वह दुरात्मपना है; उसे तू छोड़, और 'मैं सदैव चैतन्यस्वरूप उपयोगमय आत्मा हूँ' - ऐसा समझकर तू पवित्रात्मा बन। इस प्रकार यहाँ दुरात्मपना छोड़कर पवित्रात्मपना प्रगट करने की प्रेरणा की है।

(5)

श्री सर्वज्ञ भगवान की साक्षी देकर आचार्यदेव कहते हैं कि - अरे जीव! सर्वज्ञ भगवान ने तो जीव को नित्य उपयोगस्वभावरूप देखा है। सुननेवाला शिष्य, व्यवहार से तो सर्वज्ञ भगवान को माननेवाला है; इसलिए आचार्यदेव उसे सर्वज्ञ की साक्षी देकर समझाते हैं कि हे भाई! अपने सर्वज्ञ भगवान, समस्त विश्व को

www.vitragvani.com

प्रत्यक्ष जाननेवाले हैं। उन सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान से तो ऐसा प्रसिद्ध किया गया है कि जीवद्रव्य सदैव उपयोगमय है और शरीरादिक तो अचेतन हैं। यदि तू ऐसा कहता है कि 'शरीरादि पुद्गलद्रव्य मेरे हैं' – तो हे भाई! सर्वज्ञ भगवान ने सदैव चेतनरूप देखा है—ऐसा जीवद्रव्य, अचेतन कहाँ से गया कि जिससे तू पुद्गलद्रव्य को अपना मानता है ?

जिस प्रकार प्रकाश और अन्धकार में एकता नहीं है, किन्तु अत्यन्त भिन्नता है; उसी प्रकार चैतन्यस्वरूप आत्मा और जड़ में एकता नहीं है, किन्तु अत्यन्त भिन्नत्व है। जिस प्रकार जड़ के साथ आत्मा को एकता नहीं है, उसी प्रकार रागादिक के साथ भी चैतन्यस्वरूप की एकता नहीं है; चैतन्यस्वरूप तो राग से भी भिन्न है। चैतन्य और राग की एकमेकता नहीं हुई है; इसलिए हे शिष्य! तू अपने आत्मा को शरीर और राग से भिन्न चैतन्यस्वरूप जान! चैतन्यस्वरूप आत्मा एक ही तेरा स्वद्रव्य है – ऐसा तू अनुभव कर!!

जिनका ज्ञान सर्व प्रकार से शुद्ध है – ऐसे सर्वज्ञ भगवान ने अपने दिव्यज्ञान में ऐसा देखा है कि आत्मा सदैव उपयोगस्वरूप है। जो जीव इससे विपरीत मान्यता हो, उसने वास्तव में सर्वज्ञ भगवान को नहीं पहिचाना है। यदि सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान का निर्णय करे तो आत्मा सदैव उपयोगस्वरूप है – ऐसा निर्णय भी होता ही है।

सर्वज्ञ भगवान के आत्मा में परिपूर्ण ज्ञान है और राग किंचित् भी नहीं है, इसलिए उसका निर्णय करने से ज्ञान और राग की भिन्नता का निर्णय होता हो जाता है। इस प्रकार हे भाई! तेरे

www.vitragvani.com

चैतन्यस्वरूप आत्मा को राग से भी भिन्नता है, तब फिर शरीरादि मूर्तद्रव्यों के साथ तो एकता कहाँ से हो सकती है ? इसलिए उस एकत्व का भ्रम छोड़कर 'मैं चैतन्य ही हूँ' – ऐसा तू अनुभव कर।

(6)

जिस प्रकार पिता दो हिस्से करके पुत्र को समझाता है कि देख भाई ! यह तेरा हिस्सा; अपना भाग लेकर तू सन्तुष्ट हो; उसी प्रकार यहाँ जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य – ऐसे दो हिस्से करके आचार्यदेव समझाते हैं कि देख भाई ! चैतन्यद्रव्य नित्य उपयोग-स्वभावरूप है, वह तेरा हिस्सा है, और 'नित्य उपयोगस्वभाव' के अतिरिक्त अन्य पुद्गलद्रव्य का हिस्सा है। हे जीव ! अब तू अपना हिस्सा लेकर सन्तुष्ट हो। उपयोगस्वभाव / ज्ञायकभाव के अतिरिक्त अन्य सब में से आत्मबुद्धि छोड़कर इस एक ज्ञायकभाव का ही अपने स्वभावरूप अनुभव कर.. उसी में एकाग्र हो।

(7)

जिस प्रकार नमक में से पानी हो जाता है और पानी से नमक हो जाता है; उसी प्रकार जीव कभी पुद्गलरूप नहीं होता और पुद्गल कभी जीवरूप नहीं होता। इसलिए नमक के पानी की भाँति जीव-अजीव की एकता नहीं है, किन्तु प्रकाश और अन्धकार की भाँति जीव-अजीव की भिन्नता है। जैसे प्रकाश और अन्धकार को कभी एकत्व नहीं है; उसी प्रकार चेतन और जड़ को कभी एकत्व नहीं है। जीव तो चैतन्यप्रकाशमय है और पुद्गल तो जड़ – अन्ध है; उनके अत्यन्त भिन्नता है।

यहाँ 'नमक का पानी'—ऐसा दृष्टान्त देकर आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीव ! जिस प्रकार नमक गलकर पानीरूप हो जाता है;

www.vitragvani.com

उसी प्रकार तेरी परिणति अजीव को अपना मानकर उस ओर उन्मुख होने पर भी, उस अजीव के साथ तो एकाकार – एकमेक नहीं हो सकती; इसलिए उस अजीव से अपनी परिणति को अन्तर में उपयोगस्वरूप जीवद्रव्य की ओर उन्मुख करे तो वहाँ वह एकाकार होती है; इसलिए वही तेरा स्वरूप है – ऐसा तू जान। तेरी परिणति पर के साथ तो एकरूप नहीं हो सकती; तेरे उपयोगस्वरूप जीवद्रव्य में ही वह एकाकार होती है, इसलिए 'यह उपयोगस्वरूप जीवद्रव्य ही मैं हूँ' – इस प्रकार एक उपयोगस्वरूप जीवद्रव्य का ही स्वद्रव्यरूप अनुभव करके, उसी में अपनी परिणति को एकाकार कर और परद्रव्य को अपना माननेरूप मोह को अब तो तू छोड़ रे छोड़!

(8)

देह, वह मैं हूँ; देह की क्रिया मेरी है – ऐसा जो अज्ञानी मानता है, उससे आचार्यदेव कहते हैं कि अरे मूढ़! जीव तो उपयोगस्वरूप है और शरीरादि पुद्गल तो जड़स्वरूप हैं; उपयोगस्वरूप जीव और जड़स्वरूप पुद्गल का एकत्व कभी नहीं हो सकता। तू कहता है कि चैतन्यमय जीव 'मैं' हूँ और शरीरादि अजीव भी 'मैं' हूँ – इस प्रकार चैतन्य और जड़ दोनों द्रव्यरूप से तू अपने को मानता है, किन्तु भाई रे! तू एक, जीव और अजीव – ऐसे दोनों द्रव्यों में किस प्रकार रह सकता है? तू तो सदैव अपने उपयोगस्वरूप में विद्यमान है; पुद्गल तो जड़ है, उसमें तू विद्यमान नहीं है। इसलिए अकेले चैतन्यमय स्वद्रव्य का तू अपनेरूप अनुभव कर, उसी में 'मैं' पने की दृढ़ प्रतीत कर और उससे भिन्न अन्य समस्त पदार्थों में से मैं-पना छोड़ दे।

www.vitragvani.com

(9)

अहो! मैं तो एक चैतन्यमय जीवतत्त्व हूँ; मैं अजीव में कैसे व्याप्त हो सकता हूँ? मैं तो अपने उपयोगस्वरूप में ही हूँ और पर तो पर में ही है। मैं कभी अपने उपयोगस्वरूप को छोड़कर पररूप हुआ ही नहीं हूँ – ऐसा श्रीगुरु ने तुझे समझाया, इसलिए 'हे भव्य! मैं स्वयं अपने उपयोगस्वभाव में ही हूँ' – ऐसा जानकर, प्रसन्न होकर सावधान हो और अन्तर्मुख होकर अपने चैतन्यस्वरूप का अनुभव कर! उसके अतीन्द्रिय आनन्द का उपभोग कर! हमने तो तुझे तेरा चैतन्यस्वरूप देहादि सर्व से पृथक् और स्वयं तुझ से ही परिपूर्ण सदा उपयोगमय बतलाया है, उसे जानकर तू प्रसन्न हो, सावधान हो और उसका अनुभव कर, उसमें तुझे आत्मा के अपूर्व आनन्द का स्वसंवेदन होगा।

(10)

— इस प्रकार आचार्यदेव ने चैतन्यस्वरूप में प्रसन्नता, सावधानी और अनुभव करने को कहा।

श्रीगुरु के ऐसे कल्याणकारी उपदेश को झेलनेवाला शिष्य, विनय और बहुमानपूर्वक कहता है कि हे प्रभो! अनादि काल से मैं अपने चैतन्यतत्त्व को भूलकर विकार और पर में अपनत्व मानकर, कर्तृत्वबुद्धिरूप मूर्खता से आकुल-व्याकुल हो रहा था, अब आपने ही परम करुणा करके बारम्बार मुझे प्रतिबोध दिया और पर से अत्यन्त भिन्न चैतन्यस्वरूप से परिपूर्ण मेरा स्वद्रव्य समझाकर मुझे निहाल किया। अहो! ऐसा परम महिमावन्त अपना स्वद्रव्य समझने से मुझे प्रसन्नता होती है। पर में एकाकार हुई

www.vitragvani.com

एकत्वबुद्धि दूर होकर अब चैतन्यस्वरूप में सावधानी होती है; मेरा उत्साह निजस्वरूप की ओर ढलता है और मैं, अपना नित्य उपयोगस्वरूप से अतीन्द्रियज्ञानान्दस्वभाव का अनुभव करता हूँ। अब, रागादिभाव या परद्रव्य मेरे स्वरूप में एकमेकरूप से किञ्चित् भासित नहीं होते। अहो नाथ! आपने दिव्य मन्त्रों द्वारा हमारी मोहमूर्च्छा दूर करके हमें सजीवन किया.....

– इस प्रकार, समझनेवाला शिष्य अत्यन्त विनय और बहुमानपूर्वक श्रीगुरु के उपकार की प्रसिद्धि करता है।

(11)

आचार्यदेव ने अनेकानेक प्रकार से जीव-अजीव का भिन्नत्व बतलाया और अजीव से भिन्न शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा की समझ प्रदानकर प्रसन्नतापूर्वक सावधानी से उसका अनुभव करने को कहा; कोई जीव इतने से भी जागृत न हो तो उसे अति उग्र प्रेरणा करके आचार्यदेव 23 वें कलश में कहते हैं कि – अरे भाई! तू मरकर भी चैतन्यमूर्ति आत्मा का अनुभव कर। आचार्यदेव कोमल सम्बोधन से कहते हैं कि भाई! शरीरादिक मूर्तद्रव्यों से भिन्न ऐसे अपने चैतन्यस्वरूप आत्मा का तू किसी भी प्रकार महाप्रयत्न करके अनुभव कर, जिससे पर के साथ एकत्व का तेरा मोह छूट जाए।

— आत्मा का अनुभव करने की प्रेरणावाला वह लेख अब आप आगामी पृष्ठ में पढ़ेंगे। आत्मकल्याण के लिये लालायित जिज्ञासुओं को वह लेख पढ़ने से ऐसा लगेगा कि अहो! महा उपकारी सन्तों के अतिरिक्त आत्मकल्याण की ऐसी वात्सल्ययुक्त अद्भुत प्रेरणा कौन दे! ●

www.vitragvani.com

आत्मकल्याण की अद्भुत प्रेरणा

आत्मकल्याण के लिये लालायित जिज्ञासुओं को यह लेख पढ़ने से ऐसा लगेगा कि अहो! महा उपकारी सन्तों के अतिरिक्त आत्मा के कल्याण की ऐसी वात्सल्य भरी अद्भुत प्रेरणा कौन दे?

अरे जीव! चैतन्य के अनुभवरहित जीवन तुझे कैसे रुचता है? हे जीव! अब तो तू जागृत हो... जागृत होकर हमने तुझे तेरा चैतन्यस्वरूप बतलाया है, उसका अनुभव करने के लिये उद्यमी हो, मोह की मूर्च्छा में अब एक क्षण भी न गँवा। चैतन्य का जीवन प्राप्त करने के लिये एक बार तो सम्पूर्ण जगत् से पृथक् पड़कर अन्तर में तेरे चैतन्यविलास को देख! ऐसा करने से तुझे सर्व कल्याण की प्राप्ति होगी। हे भाई! हे वत्स! अब तुझे इस जीवन में यही करने योग्य है... तेरे आत्मकार्य को तू शीघ्रता से कर।

(1)

जिस जीव को चैतन्यस्वरूप आत्मा का पता नहीं और अज्ञानभाव से जड़ के साथ तथा विकार के साथ एकमेकपना मान रहा है, उसे आचार्यदेव ने समझाया कि हे भाई! तेरा आत्मा तो सदा ही चैतन्यस्वरूप है; तेरा चैतन्यस्वरूप आत्मा जड़ के साथ कभी एकमेक नहीं हो गया है, इसलिए हे जीव! अब तू जड़ के साथ एकमेकपने की मान्यता को छोड़ और तेरे चैतन्यस्वरूप आत्मा को देख। जड़ से भिन्न तेरा चैतन्यतत्त्व हमने तुझे बतलाया है। उसे जानकर अब तू प्रसन्न हो... सावधान हो।

www.vitragvani.com

ऐसे अनेक प्रकार से आचार्यदेव ने समझाया तथापि इतने से भी कोई जीव न समझे तो फिर से उसे प्रेरणा करते हुए आचार्यदेव 23 वें कलश में कहते हैं कि—

रे भाई! तू किसी भी प्रकार से महा कष्ट से अथवा मरकर भी तत्त्व का कौतुहली हो, चैतन्य तत्त्व को देखने के लिये महा प्रयत्न कर। इन शरीरादि मूर्त द्रव्यों का दो घड़ी पड़ोसी होकर, उनसे भिन्न ऐसे तेरे आत्मा का अनुभव कर। तेरे आत्मा का चैतन्यविलास समस्त परद्रव्यों से भिन्न है, उसे देखते ही समस्त परद्रव्यों के साथ एकत्व का तेरा मोह छूट जायेगा।

(2)

यहाँ मरकर भी चैतन्यमूर्ति आत्मा का अनुभव कर—ऐसा कहकर उस कार्य की परम महत्ता बतलायी है। हे भाई! तेरे सर्व प्रयत्न को तू इस ओर झुका। एक आत्म-अनुभव के अतिरिक्त जगत् के दूसरे सभी कार्य करने में मानो कि मेरी मृत्यु हुई हो-ऐसे उनसे उदासीन होकर, इस चैतन्यस्वरूप आत्मा का अनुभव करने के लिये ही उद्यमी हो... सर्व प्रकार के उद्यम द्वारा अन्तर में झुककर तेरे आत्मा को पर से भिन्न देख।

(3)

अरे जीव! चैतन्यतत्त्व के अनुभवरहित जीवन तुझे कैसे रुचता है? आत्मा के भानरहित जीवों का जीवन हमें तो मुर्दे जैसा लगता है। जहाँ चैतन्य की जागृति नहीं, अरे! स्वयं कौन है? इसका पता ही नहीं, उसे वह जीवन कैसे कहलाये? हे जीव! अब तो तू जागृत हो... जागृत होकर, हमने तुझे तेरा चैतन्यस्वरूप बतलाया

www.vitragvani.com

है, उसका अनुभव करने के लिये उद्यमी हो, मोह की मूर्च्छा में अब एक क्षण भी न गँवा। चैतन्य का जीवन प्राप्त करने के लिये एक बार तो सम्पूर्ण जगत् से पृथक् पड़कर अन्तर में तेरे चैतन्यविलास को देख – ऐसा करने से तेरा अनादि का मोह छूटकर तुझे अपूर्व कल्याण की प्राप्ति होगी।

हे भाई! हे वत्स! अब तुझे इस जीवन में यही करनेयोग्य है। तुझे कठिन लगता हो और घबराहट होती हो तो हम तुझे कहते हैं कि हे भाई! यह कठिन नहीं, परन्तु प्रयत्न से सरल है; मात्र एक बार तू जगत के समस्त परद्रव्यों से भिन्न पड़कर उनका पड़ोसी हो जा, और जगत् से भिन्न चैतन्यतत्त्व को देखने के लिये कौतूहल करके अन्तर में उसका उद्यम कर – ऐसा करने से तुझे अन्तर में आनन्दसहित चैतन्य का अनुभव होगा और तेरी उलझन मिट जायेगी।

(4)

पर में कुछ नयी बात आवे, वहाँ उसे जानने का कैसा कौतूहल करता है! तो अनादि काल से नहीं जाना हुआ ऐसा परम महिमावन्त चैतन्यतत्त्व, उसे जानने के लिये कौतूहल क्यों नहीं करता? आत्मा कैसा है? — यह जानने का एक बार तो कौतूहल कर। जगत् की दरकार छोड़कर आत्मा को जानने की दरकार कर। अरे जीव! जगत् का नया-नया जानने में उत्साह और चैतन्यतत्त्व को जानने में बेदरकारी—यह तुझे नहीं शोभता। इसलिए चैतन्य को जानने की विस्मयता ला और दुनिया की दरकार छोड़। दुनिया तुझे मूर्ख कहेगी, अनेक प्रकार की प्रतिकूलता करेगी, परन्तु उन सबकी

www.vitragvani.com

उपेक्षा करके अन्तर में चैतन्यभगवान कैसा है, उसे देखने का एक ही लक्ष्य रखना। यदि दुनिया की अनुकूलता-प्रतिकूलता में रुकेगा तो चैतन्य भगवान को तू देख नहीं सकेगा। इसलिए दुनिया की दरकार छोड़कर.... अकेला पड़कर... अन्तर में अपने चैतन्य भगवान को देखने का तू उद्यम कर।

(5)

आचार्यदेव अत्यन्त कोमलता से प्रेरणा प्रदान करते हैं कि हे बन्धु! अनादि काल से तू इस चौरासी के कुएँ में पड़ा है, उसमें से शीघ्र बाहर निकलने के लिये मरकर भी तू तत्त्व का कौतूहली हो। यहाँ 'मरकर भी' तत्त्व का कौतूहली होने का कहा, उसमें पराकाष्ठा की बात की है। मृत्यु तक के उत्कृष्ट प्रसङ्ग को लक्ष्य में लेकर तू आत्मा को देखने का कौतूहली हो। मरण प्रसङ्ग भले आवे नहीं परन्तु तू इतनी उत्कृष्ट हद को लक्ष्य में लेकर चैतन्य को देखने का उद्यम कर। मरकर भी अर्थात् देह जाती हो तो भले जाये परन्तु मुझे तो आत्मा का अनुभव करना है - ऐसे भाव से उद्यम कर। 'मरकर' ऐसा कहा उसमें वास्तव में तो देहदृष्टि छोड़ने को कहा है; मरने पर तो देह छूटती है परन्तु हे भाई! तू आत्मा को देखने के लिये जीते जी देह की दृष्टि छोड़ दे... 'देह वह मैं'—ऐसी मान्यता छोड़ दे।

(6)

चैतन्यतत्त्व को देखने के लिये कौतूहल करने को कहा, वह शिष्य की चैतन्य को देखने के लिये छटपटाहट और उग्रता बतलाता है। हे भाई! तू प्रमाद छोड़कर उग्र प्रयत्न द्वारा चैतन्यतत्त्व को देख। जैसे सर्कस इत्यादि के नये-नये प्रसङ्ग देखने में कौतूहल है,

www.vitragvani.com

इसलिए वहाँ एक नजर से देखता रहता है, वहाँ नींद नहीं आती, प्रमाद नहीं करता। उसी प्रकार हे भाई! शरीरादिक से भिन्न ऐसे चैतन्यतत्त्व को देखने के लिये जगत की प्रतिकूलता का लक्ष्य छोड़कर अन्तर में कौतूहल कर, पूर्व में कभी नहीं देखे हुए ऐसे परम चैतन्य भगवान को देखने के लिये उत्कण्ठा कर। प्रमाद छोड़कर उसमें उत्साह कर।

(7)

जिसे चैतन्यतत्त्व के अनुभव की उत्कण्ठा लगी हो वह जीव, जगत् की मृत्यु तक की प्रतिकूलता को भी गिनता नहीं है। सामने प्रतिकूलतारूप से मरण तक की बात ली है और यहाँ चैतन्य को देखने के लिये छटपटाहट-कौतूहल की बात ली है। इस प्रकार पारस्परिक उत्कृष्ट बात ली है। चैतन्यतत्त्व को देखने के लिये सामने शरीर जाने तक की प्रतिकूलता लक्ष्य में लेकर उसकी दरकार जिसने छोड़ी, वह जीव, संयोग की दृष्टि छोड़कर अन्तर के चैतन्यस्वभाव में झुके बिना नहीं रहेगा। असंयोगी चैतन्यतत्त्व का अनुभव करने की जिसे कामना है, वह जीव बाहर में शरीर के वियोग तक की प्रतिकूलता आवे तो भी उलझता नहीं। यहाँ यह बात भी समझ लेना कि चैतन्य के अनुभव का आकांक्षी जीव जैसे जगत् की प्रतिकूलता को गिनता नहीं, वैसे जगत् की अनुकूलता में वह उत्साह भी नहीं करता तथा बाहर के जानपने में सन्तोष मानकर वह अटक नहीं जाता। अन्तर में एक चैतन्यतत्त्व की ही महिमा उसके हृदय में बसती है, इसके अतिरिक्त अन्य सभी की महिमा उसके हृदय में से छूट गयी होती है। इसलिए चैतन्य की

www.vitragvani.com

महिमा के जोर से वह जीव, संयोग का और विकार का लक्ष्य छोड़कर उनसे भिन्न चैतन्यतत्त्व का अनुभव किये बिना नहीं रहेगा।

(8)

अखण्ड चैतन्यसामर्थ्य को चूककर जिसने अल्पज्ञता में और विकार में एकत्वपने की बुद्धि है, उसे संयोग में भी एकत्वपने की बुद्धि पड़ी ही है; संयोग में एकपने की बुद्धि के बिना अल्पज्ञता में या विकार में एकपने की बुद्धि नहीं होती। यदि संयोग में से एकत्वबुद्धि वास्तव में छूटी हो तो संयोगरहित स्वभाव में एकत्वबुद्धि हुई होना चाहिए।

यहाँ आचार्यदेव अप्रतिबुद्ध शिष्य को समझाते हैं-हे जीव! अनादि से तेरे भिन्न चैतन्यतत्त्व को चूककर, बाह्य में शरीरादि परपदार्थों के साथ एकपने की मान्यता से तूने ही मोह खड़ा किया था, अब देहादिक से भिन्न चैतन्यतत्त्व की पहचान करते ही तेरा वह मोह मिट जायेगा; इसलिए सर्व प्रकार से तू उसका उद्यम कर।

(9)

आचार्यदेव कहते हैं कि हे शिष्य! मरकर भी तू तत्त्व का कौतूहली हो। देखो! शिष्य में बहुत पात्रता और तैयारी है; इसलिए मरकर भी तत्त्व का कौतूहली होने की यह बात सुनने के लिये वह खड़ा है। अन्तर में समझकर आत्मा का अनुभव करने की उसे भावना है, धगश है, इसलिए जिज्ञासा से सुनता है। उसे स्वयं को भी अन्तर में इतना तो भासित हो गया है कि आचार्य भगवान मुझे 'मरकर भी आत्मा का अनुभव करने का' कहते हैं तो अवश्य मुझे मेरे चैतन्य का अनुभव करना, यही मेरा कर्तव्य है - ऐसा शिष्य

www.vitragvani.com

अन्तर में अपूर्व प्रयत्न द्वारा अल्प काल में भी चैतन्यतत्त्व का अनुभव अवश्य करेगा।

(10)

जिसे अन्तर में चैतन्यतत्त्व जानने का कौतूहल जागृत हुआ है और उसके लिये शरीर का नाश होने तक की प्रतिकूलता को भी सहन करने के लिये तैयार हुआ, वह जीव अपने प्रयत्न द्वारा चैतन्य में ढले बिना नहीं रहेगा। शरीर को व्यय करके भी मुझे आत्मा को देखना है—ऐसा लक्ष्य में लिया, उसमें यह बात आ ही गयी है कि मैं शरीर से भिन्न हूँ, मुझे शरीरादि परवस्तु के बिना भी चलता है। शरीर छोड़कर भी चैतन्यतत्त्व का अनुभव करने के लिये जो तैयार हुआ, उसे शरीर में अपनेपने की बुद्धि तो सहज टल जाती है। शरीर जाने पर भी मुझे मेरे आत्मा का अनुभव रह जायेगा, ऐसा भिन्न तत्त्व का लक्ष्य उसे हो गया है।

हे जीव! तेरा आत्मा चैतन्यस्वरूप है, वह संसाररहित है। ऐसे संसाररहित चैतन्यतत्त्व का अनुभव करने के लिये सम्पूर्ण संसार -पक्ष की दरकार छोड़कर, तू चैतन्य की ओर ढल; ऐसा करने से सम्पूर्ण संसार से भिन्न ऐसे तेरे परम चैतन्यतत्त्व का तुझे अनुभव होगा और तेरा परम कल्याण होगा।

इस प्रकार आचार्यदेव ने आत्मकल्याण की अद्भुत प्रेरणा की है।

अहो! महा उपकारी सन्तों के अलावा आत्मकल्याण की ऐसी वात्सल्ययुक्त अद्भुत प्रेरणा कौन दे! ●

www.vitragvani.com

हे जीव! तेरे आत्महित के लिये
तू शीघ्रता से सावधान हो

यह शरीर-झोंपड़ा वृद्धता-रोगाग्नि से शीघ्र जल जायेगा और इन्द्रियाँ बलहीन होगी, शीघ्र निज हित को साध ले।

एक देश से प्रवास करके दूसरे उत्तम देश में जाना हो तो शीघ्र प्रवास करके वहाँ शीघ्रता से कैसे पहुँचा जायेगा, उसका विचार करता है; तो इस देहरूपी परदेश को छोड़कर चैतन्यधामरूपी अपने उत्तम स्वदेश में तुझे जाना है तो उसमें शीघ्रता से कैसे पहुँचा जाये और आत्महित शीघ्रता से कैसे सधे? इसके लिए हे जीव! तू उद्यमी हो। अन्यत्र कहीं रुक नहीं।

आहा! अतीन्द्रिय महान पदार्थ आत्मा, आनन्द से भरपूर, उसके अचिन्त्य चेतन निधान जिसने अपने में देखे हैं और ऐसे आत्मा को जो सदा चिन्तवन करता है, वह जगत की बाह्य जड़ ऋद्धि में मोहित कैसे होगा? चैतन्य की आनन्द ऋद्धि के अनुभवसुख के समक्ष देवलोक के दिव्य भोग भी सर्वथा नि:स्सार हैं, उनमें आत्मा का सुख किंचित नहीं है। जिसे आत्मा का भान नहीं, ऐसे जड़बुद्धि लोग ही उस बाह्य वैभव में सुख मानकर अज्ञान से दु:खी होते हैं। सन्त कहते हैं-भाई! तेरे अचिन्त्य निधान को तुझमें देख... शीघ्र देख।

अरे! इस मनुष्यजीवन का अल्प काल, उसमें तेरे आत्मा के सुख का तू अनुभव कर ले, यह क्षणभंगुर शरीर तो करोड़ों रोगों का धाम है; उसमें बुढ़ापा आवे, रोग हो, इन्द्रियाँ काम न करें - ऐसी

www.vitragvani.com

दशा आवे, उससे पूर्व तू आत्मा का हित कर ले; शरीर की जवानी के भरोसे रुक नहीं; उनसे अत्यन्त विरक्त होकर, भिन्न आत्मा को लक्ष्यगत करके, तू शीघ्रता से तेरे आत्मा का हित कर। दूसरे सब काम एक ओर छोड़कर, आत्मा के हित की शीघ्रता कर। शरीर कहीं हित का साधन नहीं परन्तु शरीर का लक्ष्य छोड़कर आत्मा के हित में तू अभी से ही सावधान हो—ऐसा उपदेश है।

शरीर में रोग, बुढ़ापा होवे, उससे कहीं आत्मा का हित नहीं साधा जा सकता—ऐसा नहीं है परन्तु शरीर के प्रति ही जिसकी दृष्टि है, वह शरीर की शिथिलता होने पर धर्म को कहाँ से साधेगा? उसे परिणाम में आकुलता हुए बिना नहीं रहेगी। इसलिए कहते हैं कि हे जीव! पहले से ही देह से भिन्न तेरे आत्मा को लक्ष्यगत करके उसके चिन्तन का अभ्यास कर... इससे रोग या वृद्धावस्था के समय भी आत्महित में तुझे कोई बाधा नहीं आवे। पहले से ही भेदज्ञान का अभ्यास किया होगा तो सही अवसर पर वह काम आयेगा। बाकी यह शरीर तो घास की झोपड़ी जैसा है। कालरूपी अग्नि द्वारा भस्म हो जाने में इसे देर नहीं लगेगी; इसलिए काल तेरे जीवन को ग्रास बना ले, उससे पहले देह से भिन्न आत्मा को साध ले। ●

सुख का उल्लास

अरे जीव! तू प्रमोद कर... विश्वास कर... कि आत्मा स्वयं, स्वयमेव सुखरूप है। तेरे सुख के लिये जगत के किसी पदार्थ की अपेक्षा नहीं है। स्वसन्मुख होने पर आत्मा स्वयं अपने अतीन्द्रिय आनन्द में लहर करता है और मोक्षसुख का सुधापान करता है।

www.vitragvani.com

सम्यग्दर्शन के लिये अरिहन्तदेव को पहिचानो

अरिहन्तदेव अर्थात् शुद्ध आत्मा; जिसमें देह नहीं, जिसमें राग नहीं, जिसमें अपूर्णता नहीं—ऐसे शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा, वह अरिहन्त है; उन्हें पहचानने से देह से भिन्न, राग से भिन्न परिपूर्ण शुद्ध आत्मा अवश्य पहिचाना जाता है, अर्थात् सम्यग्दर्शन होता है और तभी से सच्चा जैनत्व होता है। इसलिए हे जीवो! तुम अरिहन्तदेव को पहिचानो। यहाँ श्रीगुरु उनकी पहचान कराते हैं।

☞ श्री अरिहन्त भगवान को नमस्कार हो

☞ **अरिहन्त भगवान अपने इष्टदेव हैं, इसलिए उनका स्वरूप भलीभाँति पहचानना चाहिए।**

☞ अरिहन्त भगवान का स्वरूप भलीभाँति पहचानने से आत्मा का सच्चा स्वरूप पहिचाना जाता है, क्योंकि अपने आत्मा का स्वरूप भी वास्तव में अरिहन्त भगवान जैसा ही है।

☞ **अनादि काल से आत्मा में जो मिथ्यात्वभाव है, वह अधर्म है। इस आत्मा का स्वभाव, अरिहन्त भगवान जैसा ही, पुण्य-पाप से रहित है। उसे चूककर, पुण्य-पाप को ही अपना स्वरूप मानना, वह मिथ्यात्व है। उस मिथ्यात्व का नाश कैसे हो और सम्यक्त्व कैसे प्रगट हो? उसका उपाय कहते हैं।**

☞ —जो कोई जीव, अरिहन्त भगवान के आत्मा के द्रव्य

www.vitragvani.com

-गुण-पर्याय को भलीभाँति जानता है, वह जीव वास्तव में अपने आत्मा को जानता है और उसका मिथ्यात्वरूप भ्रम अवश्य नाश को प्राप्त होता है और शुद्ध सम्यक्त्व प्रगट होता है—अनादि के अधर्म का नाश करके अपूर्व धर्म प्रगट करने का यह उपाय है।

☞ **निश्चय से अरिहन्त भगवान का और इस आत्मा का स्वभाव समान है, उस स्वभाव को जानने से सम्यग्दर्शन होता है, वह अपूर्व धर्म है। सम्यग्दर्शन के बिना तीन काल में धर्म नहीं होता।**

☞ जो जीव, अरिहन्त भगवान का स्वरूप पहचानता है, वह जीव, स्वभाव के आँगन में आया है; जो जीव, अरिहन्त भगवान को नहीं पहचानता और शरीर की क्रिया से या राग से धर्म मानता है, वह तो स्वभाव के आँगन में भी नहीं आया है।

☞ **अरिहन्त भगवान जैसे अपने आत्मा में द्रव्य-गुण-पर्याय को जो जीव नहीं जानता, वही रागादि को और शरीरादि की क्रिया को अपना स्वरूप मानता है परन्तु जो जीव, अरिहन्त भगवान जैसे अपने आत्मा को पहचानता है, उसे भेदज्ञान हो जाता है, अर्थात् वह रागादि को अपना वास्तविक स्वरूप नहीं मानता तथा शरीरादि की क्रिया को अपनी नहीं मानता। रागरहित चैतन्यभाव से उसका अन्तर परिणमन हो जाता है।**

☞ तीन लोक के नाथ तीर्थङ्कर भगवान कहते हैं कि 'मेरा और तेरा आत्मा एक ही जाति का है, दोनों की एक ही जाति है। जैसा मेरा स्वभाव है, वैसा तेरा स्वभाव है। हमको केवलज्ञानदशा प्रगट हुई, वह बाहर से नहीं प्रगट हुई, किन्तु आत्मा में शक्ति है,

www.vitragvani.com

उसमें से ही प्रगट हुई है; तेरे आत्मा में भी हमारे जैसी ही परिपूर्ण शक्ति है। हे जीव! तेरे आत्मा की शक्ति को पहचान तो तेरा मोह नाश हुए बिना नहीं रहेगा।'

☞ जैसे मोर के अण्डे में साढ़े तीन हाथ का रङ्ग-बिरङ्गा मोर होने का स्वभाव पड़ा है, इसलिए उसमें से मोर होता है; इसी प्रकार आत्मा में आनन्दमय केवलज्ञान कला प्रगट होने की शक्ति है, उसमें से केवलज्ञान खिलता है-जो ऐसी अन्तरशक्ति की प्रतीति करे, उसे सम्यग्दर्शन होकर अल्प काल में केवलज्ञान कला खिल जाती है।

-परन्तु-

☞ इस छोटे अण्डे में बड़ा रङ्ग-बिरङ्गी मोर कैसे होगा? — ऐसी शङ्का करके यदि अण्डे को झंझोड़े तो उसका रस सूख जाता है और मोर नहीं होता; इसी प्रकार जो जीव, आत्मा के स्वभाव -सामर्थ्य का विश्वास करे नहीं और 'अभी आत्मा भगवान जैसा कैसे होगा?'—ऐसे स्वभाव में शङ्का करे तो उसे सम्यग्दर्शन नहीं होता और मोह नहीं टलता।

☞ मोर के छोटे-से अण्डे में मोर होने का स्वभाव है, वह स्पर्श-रस इत्यादि इन्द्रियों से नहीं दिखता परन्तु ज्ञान द्वारा ही ख्याल में आता है; इसी प्रकार आत्मा में केवलज्ञान होने का जो स्वभाव है, वह इन्द्रियों द्वारा, मन द्वारा या राग द्वारा भी ज्ञात नहीं होता परन्तु उन इन्द्रिय इत्यादि का अवलम्बन छोड़कर स्वभाव-सन्मुख झुके हुए अतीन्द्रियज्ञान से ही वह ज्ञात होता है।

☞ जैसे दियासलाई के टोंप में अग्नि होने की सामर्थ्य है,

www.vitragvani.com

वैसे चैतन्यमूर्ति आत्मा में केवलज्ञानज्योति प्रगट होने की सामर्थ्य है। जैसे दियासलाई में अग्नि होने की सामर्थ्य है, वह आँख से नहीं दिखती परन्तु ज्ञान से ही ज्ञात होती है, वैसे आत्मा में केवलज्ञान होने की स्वभावसामर्थ्य है, वह भी अतीन्द्रियज्ञान द्वारा ही ज्ञात होती है।

☞ **अपने ऐसे स्वभावसामर्थ्य की प्रतीति और अनुभव करे तो सम्यग्दर्शनरूप पहला धर्म होता है। ऐसे स्वभाव-सामर्थ्य की प्रतीति के बिना चाहे जितने शास्त्र पढ़ जाये, व्रत-उपवास करे, प्रतिमा ले, पूजा-भक्ति करे या द्रव्यलिंगी मुनि हो-चाहे जितना करे, तथापि उसे धर्म नहीं और यह करते-करते धर्म होता नहीं।**

☞ सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिये यह अलौकिक अधिकार है; यह अधिकार समझकर याद रखने जैसा है और अन्दर मन्थन करके आत्मा में परिणमन कराने जैसा है। अपने अन्तरस्वभाव में एकाग्रता से ही सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र प्रगट होते हैं।

☞ **जिसने अरिहन्त भगवान जैसे अपने आत्मा को मन द्वारा जान लिया, वह जीव, स्वभाव के आँगन में आया है परन्तु आँगन में आने के बाद अब अन्दर उतरकर स्वभाव का अनुभव करने में अनन्त अपूर्व पुरुषार्थ है।**

☞ जैसे बड़े राजा-महाराजा के महल के आँगन में आने के बाद फिर सीधा राजा के पास जाने के लिये हिम्मत चाहिए; उसी प्रकार चैतन्य भगवान के आँगन में आने के बाद अन्दर ढलकर चैतन्यस्वभाव का अनुभव करने में अनन्त पुरुषार्थ है; जो जीव वैसा अपूर्व पुरुषार्थ करे, उसे ही भगवान आत्मा का साक्षात्कार

www.vitragvani.com

होता है-उसे ही सम्यग्दर्शन होता है। जो जीव, शुभविकल्प में अटक जाते हैं, उन्हें चैतन्य भगवान का साक्षात्कार नहीं होता-परन्तु यहाँ आँगन में अटकने की बात ही नहीं है; जो जीव आँगन में आया, वह अन्तर में जाकर अनुभव करे ही—ऐसी अप्रतिहतपने की ही यहाँ बात है।

☞ **सम्यग्दर्शन के बिना धर्म नहीं होता; इसलिए यहाँ पहले ही सम्यग्दर्शन की विधि बतायी है। सम्यग्दर्शन की विधि में पुण्य या पाप नहीं। उपयोग को अन्तर्मुख करके त्रिकाली चैतन्यद्रव्य में एकाग्र करना, वही सम्यग्दर्शन की विधि है।**

☞ देखो भाई! यही आत्मा के हित की बात है। यह समझ, पूर्व में अनन्त काल में एक सेकेण्ड भी नहीं की है; जो ऐसी समझ करे, उसे भव का नाश हुए बिना नहीं रहता।

☞ **आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझने के अतिरिक्त, भले लाखों और करोड़ों रुपये एकत्रित हो तो भी उसमें आत्मा को क्या लाभ? आत्मा का लक्ष्य किये बिना, आत्मा के अनुभव की मूल्यवान घड़ी का लाभ नहीं मिलता।**

☞ जिसने आत्मा का यथार्थ निर्णय किया, फिर उसे आहारादि हो और पुण्य-पाप के अमुक परिणाम भी होते हों, तथापि आत्मा का लक्ष्य नहीं छूटता—आत्मा का जो निर्णय किया है, वह किसी प्रसङ्ग में नहीं छूटता। प्रथम ऐसा निर्णय करना, वही करनेयोग्य है।

☞ **स्वयं सच्चा समझे, वहाँ मिथ्यामान्यता स्वयमेव टल जाती है। जिसने आत्मस्वभाव को जाना, उसे मिथ्यामान्यता**

www.vitragvani.com

टल ही गयी। सच्चा समझे, उसे विपरीत मान्यता भी रहे- ऐसा नहीं होता।

☞ हे जीव! अरिहन्त भगवान जैसे तेरे आत्मा को तू जान— ऐसा कहा, उसमें इतना तो आ गया कि पात्र जीव को अरिहन्तदेव के अतिरिक्त सर्व कुदेवादि की मान्यता तो छूट ही गयी है।

— अरिहन्त भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानकर वहीं अटकता नहीं परन्तु अपने आत्मा की ओर ढलता है।

— द्रव्य-गुण और पर्याय से परिपूर्ण मेरा स्वरूप है; राग-द्वेष मेरा स्वरूप नहीं—ऐसा निर्णय करके, फिर पर्याय का लक्ष्य छोड़कर और गुणभेद का भी लक्ष्य छोड़कर, चिन्मात्र आत्मा को लक्ष्य में लेता है। इस प्रकार अकेले चिन्मात्र आत्मा का अनुभव करते ही सम्यग्दर्शन होता है और मोह टल जाता है।

☞ भगवान के दर्शन और भगवान का साक्षात्कार कैसे हो?—उसकी यह बात है। भगवान कैसे हैं, वह पहचाने और मैं भी ऐसा ही भगवान हूँ—'जिन सो ही है आत्मा'— ऐसा पहचानकर उसी में लक्ष्य को एकाग्र करने से निर्विकल्प आनन्द का अनुभव होता है, वही भगवान का दर्शन है, वही आत्मसाक्षात्कार अथवा परमात्मा का साक्षात्कार है। 'आत्मा सो परमात्मा' इसलिए आत्मा का दर्शन ही परमात्मा का दर्शन है, वही स्वानुभव है, वही बोधिसमाधि है, वही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है; इसके अतिरिक्त भगवान में और अपने आत्मा में जो किञ्चित् भी अन्तर परमार्थ से मानता है, उसे भगवान का साक्षात्कार, भगवान से भेंट या भगवान के दर्शन नहीं होते।

www.vitragvani.com

☞ आत्मा को पहचानकर, उसका सम्यग्दर्शन करना, वह इस मनुष्य जीवन की सफलता है। आत्मा की पहचान के संस्कारसहित जहाँ जायेगा, वहाँ आत्मा की साधना चालू रखकर अल्प काल में मुक्ति प्राप्त करेगा। परन्तु यदि जीवन में आत्मा की पहिचान के संस्कार नहीं डाले तो डोरेरहित सुई की तरह आत्मा भवभ्रमण में कहीं खो जायेगा। जैसे डोरा पिरोयी हुई सुई खोती नहीं, वैसे यदि आत्मा में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूपी डोरा पिरो ले तो आत्मा चौरासी के अवतार में भटकेगा नहीं।

☞ यह सम्यग्दर्शन के लिये अपूर्व बात है। जैसे व्यापार-धन्धे में या रसोई इत्यादि में ध्यान रखते हैं, वैसे यहाँ आत्मा की रुचि करके बराबर ध्यान रखना चाहिए। अन्तर में मिलान करके समझना चाहिए। माङ्गलिकरूप से यह अपूर्व बात है। 'यह कोई अपूर्व है, समझने जैसा है'—ऐसा उत्साह लाकर साठ मिनिट बराबर ध्यान रखकर सुने तो भी दूसरों से अलग प्रकार का पुण्य हो जाता है और आत्मा के लक्ष्य से अन्तर में समझकर इस भावरूप से परिणम जाये, उसे तो अनन्त काल में अप्राप्त ऐसे सम्यग्दर्शन का अपूर्व लाभ होता है। यह बात सुनना भी कठिन है और समझना, वह तो अभूतपूर्व है।

☞ सम्यग्दर्शन की अन्तर क्रिया ही धर्म की पहली क्रिया है। सम्यग्दर्शन स्वयं श्रद्धागुण की पवित्र क्रिया है और उसमें मिथ्यात्वादि अधर्म की क्रिया का अभाव है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के निर्मलभावरूप जो पर्याय परिणमति है, वही धर्मक्रिया है; वह क्रिया, रागरहित है। राग हो, वह धर्म की क्रिया नहीं है। धर्मी जानता है कि मेरे स्वभाव के अनुभव में ज्ञान, दर्शन, आनन्द

www.vitragvani.com

की निर्मलक्रिया होती है, उसमें मैं हूँ, परन्तु राग की क्रिया में मैं नहीं।

☞ **द्रव्य-गुण-पर्याय को जानने के पश्चात् अन्तर के अभेद चेतनमात्र स्वभाव का अनुभव करने में अलग ही प्रकार का पुरुषार्थ है, उस अन्तरक्रिया में स्वभाव का अपूर्व पुरुषार्थ है। अनादि के भवसागर का अन्त ऐसे अपूर्व पुरुषार्थ से ही होता है। यदि स्वभाव के अपूर्व पुरुषार्थ बिना ही भवसागर से तिरा जाता हो, तब तो सभी जीव, मोक्ष में चले जाते!—परन्तु स्वभाव के अपूर्व प्रयत्न बिना यह समझ में आवे ऐसा कभी नहीं होता और यह समझे बिना कभी किसी जीव के परिभ्रमण का अन्त नहीं आता; इसलिए अन्तर की रुचि और धीरजपूर्वक स्वभाव समझने का उद्यम करना चाहिए।**

☞ भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव, सम्यग्दर्शन का अपूर्व उपाय बताते हुए भव्य जीव को कहते हैं कि हे भव्य! तू अरिहन्त भगवान के शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय को पहचान... वह पहचानने पर तुझे तेरे आत्मा का पता पड़ेगा कि मैं भी अरिहन्त की ही जाति का हूँ, अरिहन्त भगवान की पंक्ति में बैठूँ—ऐसा मेरा स्वभाव है। इस प्रकार आत्मस्वभाव को पहचानकर उसमें एकाग्र होने से अपूर्व सम्यग्दर्शन होगा।

☞ **पहले में पहले क्या करना, उसकी यह बात है। अनादि के अज्ञानी जीव को छोटे में छोटा जैनधर्मी बनने, अर्थात् अविरत सम्यग्दृष्टि होने की यह बात है। मुनि या श्रावक होने से पहले आत्मा की कैसी श्रद्धा होना चाहिए,**

www.vitragvani.com

उसकी यह बात है। इस सम्यक्श्रद्धारूपी भूमिका के बिना श्रावकपना या मुनिपना कभी सच्चा नहीं होता। अभी वस्तुस्वरूप क्या है, यह समझे बिना उतावला होकर बाह्य त्याग करने लगे और स्वयं को मुनिपना इत्यादि मान ले, उसे तो धर्म की विधि की अथवा धर्म के क्रम की खबर नहीं है।

☞ जिसने अन्तर में अपने आत्मस्वभाव का भान किया है, उसे वह भान सदा वर्ता ही करता है। आत्मा के विचार में हो, तब ही सम्यग्दर्शन रहे और दूसरे विचार में हो, तब सम्यग्दर्शन चला जाये—ऐसा नहीं है। समकिती को शुभ-अशुभ उपयोग के समय भी आत्मभान विस्मृत नहीं होता, सम्यग्दर्शन छूटता नहीं तथा दूषित नहीं होता; प्रतिक्षण उसे सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान वर्ता ही करते हैं-आत्मा ही उसरूप परिणमन गया है। आत्मा का भान होने के पश्चात् उसे रटना नहीं पड़ता - याद नहीं रखना पड़ता, परन्तु आत्मा में उसका सहज परिणमन हो जाता है, नींद में भी आत्मभान विस्मृत नहीं होता। इस प्रकार धर्मी को चौबीसों घण्टे सम्यग्दर्शनरूप धर्म हुआ ही करता है। ऐसा आत्मभान प्रगट करना ही जीवन में सर्व प्रथम करनेयोग्य है।

☞ यह तो आत्मा की मुक्ति प्राप्त हो वैसी बात है। इसे समझने के लिये अन्तर में होश और उत्साह चाहिए। पैसे में सुख नहीं है, तथापि जिसे पैसे का प्रेम है, वह पैसा प्राप्त होने की बात कैसे होश से सुनता है! तो आत्मा को समझने के लिये अपूर्व उत्साह से आत्मा की गरजपूर्वक अभ्यास करना चाहिए। सतसमागम से परिचय किये बिना उतावल से यह

www.vitragvani.com

बात जम जाये, ऐसा नहीं है। यह तो मुझे करनेयोग्य है— ऐसे धीर होकर इस बात को पकड़ने योग्य है।

☞ अरिहन्त भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय का निर्णय, ज्ञान के अन्तर्मुखी पुरुषार्थ के द्वारा होता है और उसका निर्णय करने से आत्मा के वास्तविक स्वरूप की पहचान होकर सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और मोह का क्षय होता है; इसलिए हे जीवो! पुरुषार्थ द्वारा अरिहन्त भगवान को पहचानो।

☞ जिस जीव ने अरिहन्त भगवान की परिपूर्ण सामर्थ्य को अपने ज्ञान में लिया, उसने अपने आत्मा में भी वैसी परिपूर्ण सामर्थ्य का स्वीकार किया और उससे कम का या विकार का निषेध किया।

☞ अरिहन्त भगवान में और इस आत्मा में निश्चय से अन्तर नहीं है, इसलिए जिसने अरिहन्त के आत्मा का वास्तविकस्वरूप जाना, उसे ऐसा लगता है कि अहो! मेरे आत्मा का वास्तविकस्वरूप भी ऐसा ही है; इसके अतिरिक्त दूसरे विपरीत भाव मेरा स्वरूप नहीं है। ऐसा जानकर अपने आत्मा की ओर ढलने से उस जीव के मोह का नाश हो जाता है।

☞ अरिहन्त भगवान को वास्तव में जाना कब कहलाये? अरिहन्त भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय के साथ अपने आत्मा को मिलान कर, जैसा अरिहन्त का स्वभाव, वैसा ही मेरा स्वभाव—ऐसा यदि निर्णय करे, तो अरिहन्त भगवान को वास्तव में जाना कहा जाता है और इस प्रकार अरिहन्त भगवान को जाने, उसे सम्यग्दर्शन हुए बिना नहीं रहता।

☞ जिसने अरिहन्त भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय को लक्ष्य

www.vitragvani.com

में लिया, उस ज्ञान में ऐसी सामर्थ्य है कि अपने आत्मा में से विकार और अपूर्णता का निषेध करके स्वभाव-सामर्थ्य को स्वीकारता है और मोह का क्षय करता है।

☞ जो जीव, अरिहन्त भगवान के आत्मा को भलीभाँति जानता है, वह जीव अपने चैतन्य-सामर्थ्य के सन्मुख होकर सम्यग्दर्शन प्रगट करता है, अर्थात् अरिहन्त भगवान को जाननेवाला जीव, अरिहन्त का लघुनन्दन होता है।

☞ धर्मी जीव ने अपने हृदय में अरिहन्त भगवान को स्थापित किया है, उसके अन्तर में केवलज्ञान की महिमा उत्कीर्ण हो गयी है और ऐसा परम महिमावन्त केवलज्ञान प्रगट होने की सामर्थ्य मेरे आत्मा में भरी है—ऐसी उसे स्वसन्मुख प्रतीति वर्तती है।

☞ केवलज्ञान का यथार्थ निर्णय करने की सामर्थ्य, शुभविकल्प में नहीं परन्तु ज्ञान में ही वह सामर्थ्य है। केवलज्ञान का यथार्थ निर्णय करनेवाला ज्ञान, अपने स्वभावसन्मुख हो जाता है।

☞ जो जीव, अरिहन्त भगवान के केवलज्ञान का निर्णय करे, वह जीव, राग को आत्मा का स्वरूप नहीं मानता, अर्थात् राग से धर्म होना नहीं मानता, क्योंकि केवलज्ञानी को राग नहीं है और जैसा केवलज्ञानी का स्वरूप है, वैसा ही अपना परमार्थस्वरूप है।

☞ जो जीव मात्र अपनी कुलपरम्परा से ही अरिहन्तदेव को महान मानता है परन्तु अरिहन्त भगवान के जीव का क्या स्वरूप है ?—वह नहीं पहचानता, उसे मिथ्यात्व का अभाव नहीं होता और धर्म नहीं होता। इसलिए अरिहन्त भगवान के

www.vitragvani.com

आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है?—वह पहचानना चाहिए। अरिहन्त भगवान के आत्मा का वास्तविक स्वरूप पहचाने, वह मिथ्यादृष्टि रहता ही नहीं।

जो जानता अरहन्त को गुण-द्रव्य अरु पर्ययेपने।
वह जीव जाने आत्म को उस मोहक्षय पावे अरे॥

☞ जिसे मोह का क्षय करना हो, उसे क्या करना? अरिहन्त भगवान का आत्मा कैसा है, उनके गुणों की सामर्थ्य कैसी है और उनकी केवलज्ञानादि पर्याय का क्या स्वरूप है?—यह निर्णय करना; यह निर्णय करने से अपने आत्मा का वास्तविक स्वरूप भी वैसा ही परिपूर्ण है—ऐसी सम्यक् प्रतीति होती है और मोह का नाश हो जाता है।

☞ यहाँ अरिहन्त भगवान इस आत्मा के ध्येयरूप / आदर्शरूप हैं। जैसे दर्पण में देखने से अपनी मुद्रा दिखती है, वैसे अरिहन्त भगवान इस आत्मा के दर्पण समान हैं; अरिहन्त भगवान का स्वरूप पहचानने से आत्मा का परिपूर्णस्वरूप कैसा है, वह पहचाना जाता है। अरिहन्त भगवान को जो केवलज्ञानादि प्रगट हुए हैं, वह प्रगट होने की मेरे आत्मा में सामर्थ्य है और जो रागादि भाव, अरिहन्त भगवान के आत्मा में से टल गये हैं, वे आत्मा का वास्तविकस्वरूप नहीं है। इस प्रकार अरिहन्त भगवान को पहचानने से अपने स्वभाव-सामर्थ्य की प्रतीति होती है और विकारी भावों से भेदज्ञान होता है।

☞ आचार्यदेव कहते हैं कि भाई! हमें तुझे तेरा शुद्धस्वरूप बतलाना है; विकार या अपूर्णता तेरा वास्तविक स्वरूप नहीं है; तेरा

www.vitragvani.com

वास्तविक स्वरूप तो विकाररहित शुद्ध परिपूर्ण है, वह हमें दर्शाना है और उस शुद्ध आत्मस्वरूप के प्रतिबिम्ब समान श्री अरिहन्त भगवान हैं, क्योंकि वे सर्व प्रकार से शुद्ध हैं; इसलिए हे भाई! तू अरिहन्त भगवान के आत्मा को पहचान और तेरे आत्मा को भी वैसा ही जान।

☞ **इस आत्मा को द्रव्य-गुण तो सदा ही शुद्ध है और पर्याय की शुद्धता नयी प्रगट करनी है। पर्याय की शुद्धता प्रगट करने के लिये द्रव्य-गुण और पर्याय की शुद्धता का स्वरूप कैसा है, वह जानना चाहिए। अरिहन्त भगवान का आत्मा द्रव्य-गुण और पर्याय तीनों प्रकार से शुद्ध है, उनके स्वरूप को जानने पर, अपने शुद्धस्वभाव की प्रतीति होती है, और पर्याय में शुद्धता होने लगती है।**

☞ अरिहन्त भगवान का आत्मा परिस्पष्ट है, सर्व प्रकार से स्पष्ट है, उन्हें जानने पर ऐसा होता है कि अहो! यह तो मेरे शुद्धस्वभाव का ही प्रतिबिम्ब है, मेरा स्वरूप ऐसा ही है-इस प्रकार यथार्थरूप से आत्मस्वभाव का भान होने पर, शुद्ध सम्यक्त्व प्रगट होता है।

☞ **अरिहन्त भगवान को राग का अत्यन्त अभाव होकर परिपूर्ण केवलज्ञान प्रगट हो गया है। उस केवलज्ञान में जो ज्ञात हुआ, वह बदलता नहीं—ऐसा निर्णय करने में भगवान के केवलज्ञान की प्रतीति आ जाती है और केवलज्ञान की प्रतीति करने पर अपना परिपूर्ण ज्ञान-सामर्थ्य कैसा है? — यह भी प्रतीति में आ जाता है और सम्यग्दर्शन होता है। इस प्रकार केवलज्ञान का यथार्थ निर्णय, वह सम्यग्दर्शन का कारण है।**

www.vitragvani.com

☞ अरिहन्त भगवान के निर्णय में केवलज्ञान का निर्णय आया, केवलज्ञान के निर्णय में आत्मा के ज्ञानस्वभाव का निर्णय आया और ज्ञानस्वभाव के निर्णय में केवलज्ञान-सन्मुख का अनन्त पुरुषार्थ आया।

☞ सर्वज्ञ परमात्मा अरिहन्त भगवान को जो जीव नहीं पहचानता, वह केवलज्ञान को नहीं पहचानता; और जो केवलज्ञान को नहीं पहचानता, वह आत्मा के ज्ञानस्वभाव को भी नहीं पहचानता; ज्ञानस्वभाव की पहचान बिना उसे कभी धर्म नहीं होता; इसलिए जिसे धर्म करना हो, उसे अरिहन्त भगवान के स्वरूप को भलीभाँति पहचानना चाहिए।

☞ अरिहन्त भगवान का और मेरा आत्मा निश्चय से समान है - ऐसा जो जीव पहचाने, उसे ऐसी निःशङ्कता हो जाती है कि जैसे अरिहन्त भगवान अपने पुरुषार्थ द्वारा मोह का क्षय करके पूर्णदशा को प्राप्त हुए; वैसे मैं भी मेरे पुरुषार्थ के जोर से मोह का क्षय करके पूर्णदशा प्राप्त करनेवाला हूँ। मोह की सेना पर विजय प्राप्त करने का उपाय मैंने प्राप्त किया है।

☞ सभी आत्मायें अरिहन्त जैसी ही हैं; अरिहन्त जैसा अपना स्वरूप जो समझना चाहे, वह समझ सकता है। अन्तर के स्वभाव की रुचि और महिमा आये बिना, जीव उसकी प्राप्ति का प्रयत्न नहीं करता। अरिहन्त जैसा अपना स्वरूप जो प्राप्त करना चाहता है, वह अवश्य प्राप्त कर सकता है। उस स्वरूप प्राप्ति के लिये अन्तर्मुखदशा का अपूर्व प्रयत्न चाहिए।

www.vitragvani.com

☞ हे जीव! तुझे तेरा अच्छा करना है न ?...तो इस जगत में तू यह ढूँढ निकाल कि जगत् में सबसे अच्छा किसने किया है ? पूर्ण हित किसने प्रगट किया है ?...

अरिहन्त भगवन्त इस जगत् में सम्पूर्ण सुखी हैं, उन्होंने आत्मा का सम्पूर्ण हित किया है। अरिहन्त भगवान ने किस प्रकार आत्मा का हित किया ?.... पहले अपने आत्मस्वभाव को परिपूर्ण जानकर, उस स्वभाव के आश्रय द्वारा मोह का क्षय किया-इस प्रकार अरिहन्त भगवन्तों ने आत्मा का हित किया। अरिहन्त जैसे अपने आत्मस्वभाव को जाना और फिर उसमें लीन होकर मोह का क्षय करके वीतरागता और केवलज्ञान प्रगट किया; इसलिए वे अरिहन्त भगवन्त सुखी हैं।

☞ उनके आत्मा की वह केवलज्ञान दशा कहाँ से आयी ?

त्रिकाली द्रव्य-गुण का जो स्वभावसामर्थ्य है, उसमें से ही वह दशा प्रगट हुई है।

हे जीव! तेरे द्रव्य-गुण में भी अरिहन्त भगवान जैसा ही स्वभावसामर्थ्य है, उस स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करके, तू उसमें स्थिरता कर तो तुझे तेरे द्रव्य-गुण में से केवलज्ञान और पूर्ण सुखमय दशा प्रगट होगी, यह आत्मा का हित करने का उपाय है।

दुनिया में अपना अच्छे में अच्छा करनेवाले तो भगवान अरिहन्त हैं, उन्हें ही तू तेरे आदर्शरूप में रख।

☞ अहो! जिन्हें मोह नहीं, अवतार नहीं, मरण नहीं, विकल्प नहीं, पर की उपाधि नहीं, भूख-प्यास नहीं, शोक नहीं, जिन्हें दिव्य केवलज्ञान और सम्पूर्ण अतीन्द्रिय सुख प्रगट हो गया है तथा जो कृतकृत्य हैं—ऐसे अरिहन्त भगवान

www.vitragvani.com

ही आत्मा के दर्पण समान हैं। वे ही सच्चे आदर्शरूप हैं। उन अरिहन्त भगवान के स्वरूप को जानने से अपने स्वरूप का प्रतिबिम्ब ज्ञात होता है—इस प्रकार अरिहन्त भगवान जैसे अपने आत्मा को जानकर, उसे ध्याते-ध्याते जीव स्वयं भी मोहरूपी अरि को नाश कर अरिहन्त हो जाता है। यह अरिहन्त होने का उपाय! अनन्त तीर्थङ्करों ने यही उपाय किया है और दिव्यध्वनि में भी ऐसा ही उपदेश किया है।

उन अरिहन्त भगवन्तों को नमस्कार हो!

(प्रवचनसार, गाथा 80 पर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन बिन्दु)

अहा! आपने मेरा जीवन बचाया

जिसे ऐसी आत्मार्थिता होती है, उसे अन्तर में आत्मा समझानेवाले के प्रति कितना प्रमोद, भक्ति, बहुमान, उल्लास और अर्पणता का भाव होता है! वह आत्मा समझानेवाले के प्रति विनय से अर्पित हो जाता है... अहो नाथ! आपके लिए मैं क्या-क्या करूँ? इस पामर पर आपने अनन्त उपकार किया... आपके उपकार का बदला मैं किसी प्रकार चुका सकूँ - ऐसा नहीं है।

जिस प्रकार किसी को फुँफकारता हुआ भयङ्कर सर्प, फन ऊँचा करके डस ले, तब जहर चढ़ने से आकुल-व्याकुल होकर वह जीव तड़पता हो, वहाँ कोई सज्जन गारूड़ी मन्त्र द्वारा उसका जहर उतार दे तो वह जीव उस सत्पुरुष के प्रति कैसा उपकार व्यक्त करेगा? अहा! आपने मेरा जीवन बचाया, दुःख में तड़पते हुए मुझे आपने बचाया, इस प्रकार उपकार मानता है।

www.vitragvani.com

गुण प्रमोद अतिशय रहे रहे अन्तर्मुख योग

गुणीजनों का गुणगान करके सत्संग की प्रेरणा देते हुए और आत्मगुण की पुष्टि करते हुए ये दस बोल, जिज्ञासुओं को रुचिकर होंगे।

(1) गुण की प्राप्ति

सम्यग्दृष्टि को जहाँ अपने अनन्त आत्मिक गुणों का स्वामित्व प्रगट हुआ, वहाँ विकार का स्वामित्व उसे कैसे रहे ? गुण की प्राप्ति जिसे हुई, वह दोष का स्वामी कैसे होगा ? अहा. ! अनन्त गुणनिधान आत्मा जिसने देखा, उसके आह्लाद की क्या बात !

(2) गुण की पुष्टि

जिसे धर्मात्मा-गुणीजनों के आश्रय का भाव है, उसके भाव में गुण की वृद्धि होती है और दोष की हानि होती है। धर्मात्मा के सम्यक्त्व-वैराग्य इत्यादि गुणों के प्रति परम प्रीति-बहुमान, वह मुमुक्षु को भी वैसे गुणों की प्राप्ति का और पुष्टि का कारण होता है।

(3) गुण की प्रीति

जिसे गुण और दोष के बीच विवेक है, अर्थात् जिसे गुण रुचते हैं और दोष नहीं रुचते, वह जीव जहाँ गुण को देखे, वहाँ उत्साह से जाता है, अर्थात् गुणीजनों का सत्संग उसे रुचता है; दोष का पोषक ऐसा कुसंग उसे रुचता नहीं।

www.vitragvani.com

(4) गुणीजनों की छाया में बसना

प्रवचनसार में गुणीजनों के सत्संग का उपदेश देते हुए श्रमण को सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि यदि श्रमण, दु:ख से परिमुक्त होना चाहता हो तो वह समानगुणवाले श्रमण के संग में अथवा अधिकगुणवाले श्रमण के संघ में नित्य बसो। समानगुणवाले के संग से गुण की रक्षा होती है और अधिकगुणवाले के संग से गुण की वृद्धि होती है। (यह बात सभी मुमुक्षु जीवों को लागू पड़ती है)।

(5) सत्पुरुष की प्रसन्नता

श्रीमद् राजचन्द्रजी, जगत की अपेक्षा सत्पुरुष की विशेष महिमा बतलाते हुए कहते हैं—

देव-देवी की तुषमानता को क्या करूँगा?

जगत की तुषमानता को क्या करूँगा?

तुषमानता सत्पुरुष की इच्छो।

(6) आत्मज्ञ सन्तों की उपासना

जीव ने आत्मा का शुद्ध एकत्वस्वरूप कभी जाना नहीं और उस एकत्वस्वरूप को अनुभव करनेवाले आत्मज्ञ सन्त की उपासना कभी नहीं की। यदि आत्मज्ञ पुरुष को पहचानकर उसकी उपासना करे तो स्वयं को भी एकत्वस्वरूप की अनुभूति होती ही है। एकत्वस्वभाव के अतीन्द्रिय आनन्द के प्रचुर स्वसंवेदनरूप आत्मवैभव जिन्हें प्रगट हुआ है—ऐसे सन्त, आत्मा का एकत्वस्वरूप दिखलाते हैं, उसे पहचानने से आत्मवैभव प्रगट

www.vitragvani.com

होता है; आत्मज्ञ सन्त की उपासना करे और आत्मवैभव प्रगट न हो—ऐसा हो नहीं सकता।

(7) गुण की अनुमोदना

– गुणीजन का अनुमोदन करनेवाला आगे बढ़ता है; ईर्ष्या करनेवाला अटक जाता है।

– जिसने गुण की ईर्ष्या की, उसे दोष प्रिय लगे; इसलिए वह तो दोष में अटक जायेगा।

– जिसने गुण की अनुमोदना की, उसे गुण प्रिय लगे; इसलिए वह दोष से परान्मुख होकर गुण में आगे बढ़ता है।

(8) गुणीषु प्रमोदं

सम्यक्त्वादि रत्नत्रयगुण के धारक ऐसे गुणीजनों के प्रति धर्मी को प्रमोद होता है; उस रत्नत्रय को तथा उनके आराधक गुणीजनों को देखकर उसे अन्तर में प्रेम-हर्ष-उल्लास और बहुमान जागृत होता है, उसे वात्सल्य उल्लसित होता है। जिसे गुणीजनों के प्रति प्रमोद नहीं आता तो समझना कि उस जीव को गुण की महिमा की खबर नहीं है, उसे अपने में गुण प्रगट नहीं हुए। जिसे अपने में गुण प्रगट हुए हों, उसे वैसे गुण दूसरे में देखने से प्रमोद आये बिना नहीं रहता।

(9) गुणीजनों का संग

भगवती आराधना में कहते हैं कि चारित्ररहित तथा ज्ञान-दर्शन से रहित—ऐसे भ्रष्ट मुनि लाखों-करोड़ों हों तो भी उन की अपेक्षा सुशील ऐसे उत्तम आचार का धारक एक ही हो, वह श्रेष्ठ

www.vitragvani.com

है, क्योंकि सुशील जो भावलिङ्गी, उसके आश्रय से शील अर्थात् दर्शन-ज्ञान-चारित्र वृद्धि को पाते हैं। (भावार्थ - जिससे सत्यार्थ धर्म प्रवर्ते, वह तो एक भी श्रेष्ठ है परन्तु जिनसे सत्यार्थ धर्म नष्ट हो और विपरीत मार्ग प्रवर्ते, ऐसे लाखों-करोड़ों भी श्रेष्ठ नहीं है।)

(भगवती आराधना, गाथा 359)

(10) गुणीजनों के आश्रय से गुण की पुष्टि

कोई ऐसा कहे कि सत्यार्थ संयमी तो हमारा आदर करते नहीं और पार्श्वस्थ (भ्रष्ट) मुनि बहुत आदर करते हैं, प्रीति करते हैं! तो — उन्हें कहते हैं कि भाई! दुर्जन द्वारा की जानेवाली जो पूजा आदर, उसकी अपेक्षा संयमीजनों द्वारा किया जानेवाला अपमान भी श्रेष्ठ है, क्योंकि दुर्जन की संगति तो आत्मा के ज्ञान-दर्शन का नाश करती है और संयमियों की संगति, आत्मा के ज्ञान-दर्शनादि स्वभाव को प्रगट करती है, उज्ज्वल करती है।

(भगवती आराधना, गाथा 360)

इसलिए श्रेष्ठ गुणधारक सन्तजनों का ही आश्रय करो—ऐसा उपदेश है।

'आत्महितकार सत्संग की जय हो!' ●

आत्मा का स्वानुभव होने पर समकिती जीव, केवलज्ञानी जितना ही निःशंक जानता है कि मैं आत्मा का आराधक हुआ हूँ और प्रभु के मार्ग में सम्मिलित हूँ। स्वानुभव हुआ और भवकटी हो गयी; अब हमारे इस भवभ्रमण में भटकना नहीं होगा। इस प्रकार अन्दर से आत्मा स्वयं ही स्वानुभव की झंकार करता हुआ जबाव देता है।

www.vitragvani.com

अनुभव का.... उपदेश

माता की तरह वात्सल्य से हित की शिक्षा प्रदान करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई! ऐसा अवसर प्राप्त करके तू देहादि से भिन्न तेरा चैतन्यतत्त्व देख। जगत् में यही करनेयोग्य है। अरे, तूने दुनिया को देखा, परन्तु देखनेवाले ऐसे तुझे स्वयं को तूने नहीं देखा। पर की प्रसिद्धि की, परन्तु अपनी प्रसिद्धि नहीं की। आहा! चैतन्यतत्त्व ऐसे आनन्द से भरपूर है कि जिसके स्मरणमात्र से शान्ति मिलती है तो उसके सीधे अनुभव के आनन्द की तो क्या बात! स्वयं अपने को जानने से परम आनन्द होता है। अरे, आत्मा के अनुभव का ऐसा सरस योग और उत्तम उपदेश प्राप्त करके अब उत्कृष्ट प्रयत्न द्वारा आत्मा को अनुभव में ले... एक बार आत्मा की खुमारी चढ़ाकर उद्यम कर।

(समयसार कलश-23 के प्रवचन में से)

भाई! तुझे आनन्दसहित आत्मा का अनुभव हो और तेरा मोह टूटे—ऐसी बात सन्त तुझे सुनाते हैं।

हे भाई! यह चैतन्यतत्त्व अन्दर में देह से भिन्न, आनन्द से भरपूर कैसा है?—उसका अनुभव करने के लिये तू कौतूहल कर... जगत् के बाह्य पदार्थों में तुझे आश्चर्य लगता है और उन्हें देखने का कौतूहल होता है परन्तु अन्दर में चैतन्यतत्त्व महाआश्चर्यकारी है, उसे देखने का कौतूहल कर। बाहर के पदार्थों को तो जानने में कोई आनन्द नहीं है; अन्दर चैतन्यतत्त्व ऐसा है कि जिसे जानने से आनन्द होता है। अहो! ऐसा आनन्दकारी चैतन्यतत्त्व,

www.vitragvani.com

उसे जानने के लिये एक बार तो ऐसी दरकार कर कि मरण जितने कष्ट आवें तो भी उसके अनुभव का प्रयत्न छूटे नहीं।

अरे! जगत की चाहना छोड़कर चैतन्य की चाहना तो कर! इन जगत् के पदार्थों को जानने में तुझे कौतूहल होता है परन्तु इन सबका जाननेवाला तू स्वयं कौन है? उसे जानने में तो जिज्ञासा कर। अनन्त काल से नहीं जाना हुआ ऐसा यह गुप्त चैतन्यतत्त्व, उसे जानने के लिये अन्दर खोज तो कर। अहा! आनन्द से विलसित चैतन्यतत्त्व देखते ही परद्रव्य के प्रति तेरा मोह छूट जायेगा; 'परद्रव्य मेरा'—ऐसी तेरी मोहबुद्धि छूट जायेगी और तुझे तेरा चैतन्यतत्त्व, परद्रव्यों से भिन्न विलसता-शोभता दिखायी देगा। भगवान ने जैसा उपयोगस्वरूप आत्मा देखा है, वैसा ही आत्मा तेरे अन्तर में विलस रहा है। वह तुझे देह से भिन्न अनुभव में आयेगा और उसे देखकर तू आनन्दित होगा।

'मरकर भी तू ऐसे तत्त्व को देख' अर्थात् ऐसा उग्र प्रयत्न कर कि मरण जितनी प्रतिकूलता खड़ी हो तो भी देह से पृथक् आत्मा को अन्तर में देखने की धगश छूटे नहीं। 'मरकर भी' अर्थात् आत्मा को तो कहीं मरण नहीं है परन्तु 'मरकर भी' अर्थात् देह की दरकार छोड़कर, देह से भिन्न आत्मा को जानने की दरकार कर। देह की जितनी दरकार की है, उसकी अपेक्षा अनन्तगुनी आत्मा की दरकार करके आत्मा को जान - ऐसी सच्ची धगश से प्रयत्न करेगा तो जरूर अन्दर तुझे देह से भिन्न आत्मा का विलास दिखेगा कि जिसे देखते ही देह के साथ एकत्वपने का तेरा मोह तुरन्त ही छूट जायेगा। अरे जीव! तू विचार तो कर कि—

मैं कौन हूँ आया कहाँ से? और मेरा रूप क्या?

www.vitragvani.com

क्या यह देह मैं हूँ ? क्या लक्ष्मी मैं हूँ ? क्या यह कुटुम्ब इत्यादि मैं हूँ ?—नहीं; ये तो सब संयोगी पदार्थ हैं, ये तो आते हैं और वापस चले जाते हैं; आत्मा तो सदा कायम असंयोगी वस्तु है। किसी संयोग में उसका सुख नहीं। सुखस्वरूप तो आत्मा स्वयं है। बाहर में से सुख खोजने जाने पर स्वयं अपने सुखस्वभाव को भूल जाता है। भाई! तेरा सुख तो कोई दूसरे में से आयेगा ? सुखस्वरूप तो आत्मा स्वयं है, स्वयं अपने को जानने से आनन्द होता है परन्तु इसके लिये इस दुनिया की दरकार छोड़कर चैतन्यसमुद्र में डुबकी लगा।

अरे! तूने दुनिया को देखा, परन्तु देखनेवाले ऐसे तूने स्वयं को ही नहीं देखा! पर की प्रसिद्धि की कि 'यह है' परन्तु अपनी प्रसिद्धि नहीं की कि 'यह जाननेवाला मैं हूँ।' जाननेवाले को जाने बिना आनन्द नहीं होता। अहा! चैतन्यतत्त्व ऐसे आनन्द से भरपूर है कि जिसके स्मरणमात्र से भी शान्ति मिलती है तो उसके सीधे अनुभव के आनन्द की तो क्या बात!

तेरा आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर भगवान है, वह मूर्त -द्रव्यों से भिन्न है। राग से भिन्न है। मूर्तद्रव्यों का तू पड़ोसी हो जा। पड़ोसी अर्थात् भिन्न; चैतन्यप्रकाश की अपेक्षा से राग भी अचेतन है, वह भी चैतन्य के साथ एकमेक नहीं परन्तु भिन्न है। शरीर और राग सबको एक ओर-एक बाजू रखकर इस ओर से सबसे भिन्न तेरे चैतन्यतत्त्व को देख। अरे! आत्मा के अनुभव का ऐसा सरस योग और भेदज्ञान का ऐसा उत्तम उपदेश, यह प्राप्त करके अब एक बार आत्मा को अनुभव में ले; प्रयत्न करके आत्मा को देहादिक से भिन्न जान।

●

www.vitragvani.com

अरिहन्त भगवान को पहचानो (2)

णमो अरिहंताणं।
णमो सिद्धाणं।
णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं।
णमो लोए सव्वसाहूणं।

अरिहन्तदेव के सच्चे अनुयायी बनने के लिये, अर्थात् सम्यग्दर्शन प्रगट करके सच्चा जैन बनने के लिये, अरिहन्त भगवान का सच्चा स्वरूप पहचानना चाहिए। अरिहन्त भगवान के स्वरूप की सच्ची पहचान में कितनी अधिक गम्भीरता है, और उसका फल कितना महान है, यह अपने को इस लेख में दिखायी देगा। अरिहन्तदेव की पहचान का पहला लेख हमने पृष्ठ 25 पर पढ़ा है, यह दूसरा लेख है।

☞ श्री अरिहन्त भगवान को नमस्कार हो।

☞ जिसे अपने आत्मा का अपूर्व हित करना हो, उसे अपने आत्मा का वास्तविकस्वरूप क्या है ?—यह पहचानना चाहिए; और वह पहचानने के लिये अरिहन्त भगवान का स्वरूप पहचानना चाहिए। अरिहन्त भगवान को पहचानने से आत्मा का वास्तविक स्वरूप पहचाना जाता है।

☞ अरिहन्त भगवान के आत्मा को जानने पर अनुमान-प्रमाण से अपने शुद्धस्वरूप का ज्ञान होता है कि अहो! मेरे आत्मा

www.vitragvani.com

का स्वरूप तो ऐसा सर्व प्रकार से शुद्ध है; पर्याय में विकार, वह मेरा वास्तविकस्वरूप नहीं है। अरिहन्त में जो नहीं, वह मेरा स्वरूप नहीं; जितना अरिहन्त में है, उतना ही मेरे स्वरूप में है। निश्चय से मुझमें और अरिहन्त में कोई अन्तर नहीं है—ऐसी आत्मप्रतीति होने से अज्ञान और विकार का कर्तृत्व छूटकर, जीव अपने स्वभाव के सन्मुख हुआ, अर्थात् स्वभाव में पर्याय की एकता होने से सम्यग्दर्शन हुआ। अब पुरुषार्थ द्वारा उस स्वभाव के ही आधार से राग-द्वेष का सर्वथा क्षय करके, अरिहन्त भगवान जैसी ही पूर्ण दशा वह जीव प्रगट करेगा।

☞ **यह बात विशेष समझने योग्य है, इसमें अकेले पर की बात नहीं। अरिहन्त भगवान को जानने का कहा, उसमें वास्तव में तो आत्मा के पूर्ण शुद्धस्वरूप को जानने का कहा है। अरिहन्त भगवान जैसा ही इस आत्मा का पूर्ण शुद्ध स्वभाव स्थापित करके उसे जानने की बात की है। जो जीव, पुरुषार्थ द्वारा शुद्धस्वभाव को जानता है, उसे धर्म होता है; जो जीव ऐसा जानने का पुरुषार्थ न करे, उसे धर्म नहीं होता। इस प्रकार इसमें यथार्थ ज्ञान और पुरुषार्थ दोनों साथ में है और सत् निमित्त के रूप में अरिहन्तदेव है, यह बात भी आ जाती है। अरिहन्त भगवान के अतिरिक्त अन्य कुदेवादि को मानता हो, उसे मोहक्षय नहीं होता।**

☞ ध्यान रखना, यह अपूर्व बात है; इसमें अकेले अरिहन्त की बात नहीं परन्तु अपने आत्मा को मिलाकर बात है। अरिहन्त भगवान के साथ अपने आत्मा का ऐसा मिलान करना चाहिए कि

www.vitragvani.com

'अहो, यह आत्मा तो केवलज्ञानस्वरूप है। उन्हें पूर्ण ज्ञानसामर्थ्य है और विकार किंचित् भी नहीं; मेरा आत्मा भी अरिहन्त जैसा ही स्वभाववाला है।'

☞ **जिसने ऐसी प्रतीति की, उसे अब स्वद्रव्य की ओर ही ढलना रहा परन्तु निमित्तों की ओर ढलना न रहा, क्योंकि अपनी पूर्णदशा अपने स्वभाव में से आती है, निमित्त में से नहीं आती तथा उसे पुण्य-पाप की ओर या अपूर्ण दशा की ओर भी देखना नहीं रहा क्योंकि विकार या अपूर्णता, वह आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है, उसमें से पूर्णदशा नहीं आती। जिसमें पूर्णदशा प्रगट होने की सामर्थ्य है—ऐसे अपने द्रव्य-गुण में ही पर्याय की एकाग्रता करना रहा। ऐसी एकाग्रता की क्रिया करते-करते पर्याय शुद्ध हो जाती है और मोह का अभाव होता है।**

☞ ऐसी एकाग्रता की क्रिया कौन करता है? जिसने प्रथम अरिहन्त भगवान को पहचाना हो और अरिहन्त जैसा अपने आत्मा का स्वरूप ख्याल में लिया हो, वह जीव, पर्याय की अशुद्धता टालकर शुद्धता प्रगट करने के लिये अपने शुद्धस्वभाव में एकाग्रता का प्रयत्न करता है परन्तु जो जीव, अरिहन्त भगवान को नहीं पहचानता, अरिहन्त जैसे अपने स्वरूप को नहीं पहचानता और पुण्य-पाप को ही अपना स्वरूप मान रहा है, वह जीव, अशुद्धता मिटाकर शुद्धता प्रगट करने का प्रयत्न नहीं करता। इसलिए सर्व प्रथम आत्मा का शुद्धस्वरूप पहचानना चाहिए और उसके लिये अरिहन्त भगवान के द्रव्य, गुण, पर्याय को पहचानना चाहिए—यह धर्म की पद्धति है।

www.vitragvani.com

☞ अभी इस भरतक्षेत्र में अरिहन्त भगवान विचरते नहीं परन्तु यहाँ से थोड़े दूर महाविदेहक्षेत्र में सीमन्धर भगवान इत्यादि तीर्थङ्कर अरिहन्तरूप से साक्षात् विचरते हैं; क्षेत्र से अमुक अन्तर होने पर भी भाव से स्वयं अपने ज्ञान में अरिहन्त भगवान के स्वरूप का निर्णय करे तो उसमें क्षेत्र का अन्तर बाधक नहीं है। जिसने अरिहन्त भगवान के समान अपने आत्मस्वभाव का निर्णय किया, उसे तो अपने भाव में अरिहन्त भगवान सदा ही समीप ही वर्तते हैं। जैसा अरिहन्त वैसा मैं—ऐसी प्रतीति के जोर से भाव में से उसने अरिहन्त भगवान के साथ का अन्तर तोड़ डाला है।

☞ किसी को ऐसी शंका होती है कि अभी तो अरिहन्त नहीं, तो उनका स्वरूप किस प्रकार निश्चित हो?—उसका समाधान यह है कि यहाँ अरिहन्त की उपस्थिति की बात नहीं की है परन्तु अरिहन्त का स्वरूप जानने की बात की है। यहाँ अरिहन्त की साक्षात् उपस्थिति हो तो ही उनके स्वरूप को जाना जा सके – ऐसा नहीं है। अभी इस क्षेत्र में अरिहन्त भगवान नहीं है परन्तु महाविदेहक्षेत्र में तो अभी भी अरिहन्त भगवान साक्षात् विराजते हैं, और ज्ञान द्वारा उनके स्वरूप का निःसन्देह निर्णय यहाँ भी हो सकता है।

☞ सामने अरिहन्त भगवान साक्षात् विराजमान हों, तब भी ज्ञान द्वारा ही उनका निर्णय होता है। परम औदारिकशरीर, समवसरण दिव्यध्वनि वह कहीं अरिहन्त भगवान नहीं है; वह सब तो आत्मा से भिन्न है। चैतन्यस्वरूप आत्मा वह द्रव्य,

www.vitragvani.com

ज्ञान-दर्शन आदि उसके गुण और केवलज्ञान-अतीन्द्रिय आनन्द इत्यादि पर्याय—ऐसे द्रव्य-गुण-पर्याय से अरिहन्त भगवान का स्वरूप पहचाने तो अरिहन्त को पहचाना कहलाये।

☞ क्षेत्र से नजदीक अरिहन्त की उपस्थिति हो या न भी हो; उसके साथ सम्बन्ध नहीं है, परन्तु अपने ज्ञान में उनके स्वरूप का निर्णय है या नहीं?—उसके साथ सम्बन्ध है। क्षेत्र से नजदीक अरिहन्त प्रभु बिराजते हैं परन्तु उस समय यदि ज्ञान द्वारा जीव उनके स्वरूप का निर्णय न करे तो उस जीव को आत्मा का स्वरूप ज्ञात नहीं होता और उसके लिये तो अरिहन्त भगवान बहुत दूर हैं—और अभी यहाँ क्षेत्र से नजदीक अरिहन्त प्रभु न होने पर भी यदि अपने ज्ञान द्वारा अरिहन्त प्रभु के स्वरूप का निर्णय करे तो उसके लिये अरिहन्त प्रभु नजदीक हाजरा-अजूर (विद्यमान) है।

☞ अभी इस भरतक्षेत्र में पंचम काल में साक्षात् अरिहन्त भगवान की अनुपस्थिति में भी जिन आत्माओं ने अपने ज्ञान में अरिहन्त भगवान के स्वरूप का (द्रव्य-गुण-पर्याय का) वास्तविक निर्णय किया है, और वैसा ही अपना स्वरूप है—ऐसा जाना है, उनके लिये तो अरिहन्त भगवान साक्षात् मौजूद बिराजमान हैं; उनके हृदय में, उनके ज्ञान में भगवान बिराजते हैं।

☞ देखो, इसमें किसकी महिमा?-अरिहन्त भगवान के स्वरूप का निर्णय करनेवाले ज्ञान की महिमा है। भाई रे! इस क्षेत्र में अरिहन्त नहीं, परन्तु अरिहन्त का निर्णय करनेवाला तेरा ज्ञान तो है

www.vitragvani.com

न! उस ज्ञान के जोर से अरिहन्त का निर्णय करके क्षेत्रभेद निकाल दे, ज्ञान का निर्णय करने में क्षेत्रभेद अवरोधक नहीं—अहो! ज्ञान को स्वसन्मुख करके अरिहन्त प्रभु के विरह को भुला दे—ऐसी यह बात है।

☞ जिसने अपने भाव में भगवान को नजदीक किया उसे तो भगवान सदा ही नजदीक ही वर्तते हैं और जिसने अपने भाव में भगवान को दूर किया, (अर्थात् भगवान को नहीं पहचाना), उसे भगवान दूर हैं —फिर क्षेत्र से भले नजदीक हो।

☞ द्रव्य-गुण-पर्याय से अरिहन्त भगवान के स्वरूप का निर्णय करने से पूरा स्वभाव प्रतीति में आ जाता है। अरिहन्त भगवान को पूर्ण निर्मलदशा प्रगट हुई, वह कहाँ से प्रगटी? जहाँ सामर्थ्य था, उसमें से प्रगटी। स्वभाव में पूर्ण सामर्थ्य था, उसकी सन्मुखता से वह दशा प्रगटी है। मेरा स्वभाव भी अरिहन्त भगवान जैसा परिपूर्ण है, स्वभावसामर्थ्य में कुछ अन्तर नहीं है। बस! ऐसी स्वभावसामर्थ्य की प्रतीति करने से ही मोह का अभाव होता है और सम्यक्त्व होता है—यह समकित का उपाय है।

☞ जैसे, अरिहन्त भगवान अपने ज्ञान में सब जानते हैं परन्तु परद्रव्य का कुछ करते नहीं, तथा राग-द्वेष-मोह भी उनके नहीं हैं; वैसे ही मेरा आत्मा भी वैसा ही जाननहार-स्वरूपी है-ऐसे ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करना, मोहक्षय का कारण है।

☞ जो जीव ऐसी ज्ञानस्वभाव की प्रतीति न करे और विपरीत

www.vitragvani.com

माने, उसने वास्तव में अरिहन्त भगवान को भी नहीं पहचाना और वह अरिहन्त भगवान का सच्चा भक्त नहीं है।

☞ जिसने अरिहन्त भगवान के स्वरूप को जाना और उसके द्वारा अपने आत्मस्वरूप का निर्णय किया, वह जीव सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा है, वही सच्चा जैन है। वह जिनेश्वरदेव का लघुनन्दन है। प्रथम, जिनेन्द्रदेव जैसा अपना स्वभाव है—ऐसा निर्णय करना, वह जैनपना है और फिर स्वभाव के अवलम्बन से पुरुषार्थ द्वारा वैसी पूर्णदशा प्रगट करना, वह जिनपना है। अरिहन्त को पहचाने बिना और उनके जैसे अपने निजस्वभाव को जाने बिना सच्चा जैनपना नहीं हो सकता, अर्थात् धर्म नहीं होता।

☞ अहो! अरिहन्त भगवान अपने स्वभाव से ही स्वयं सुखी है; इन्द्रिय-विषयों के बिना ही उनका आत्मा, सुखरूप परिणम रहा है, इसलिए सुख, वह आत्मा का ही स्वरूप है। स्वभाव से ही स्वयमेव सुखरूप हुए अरिहन्त भगवन्तों को आहार, पानी, दवा या वस्त्र इत्यादि की आवश्यकता नहीं पड़ती; इस प्रकार अरिहन्त के आत्मा को पहचान कर, उसके साथ अपने आत्मा का मिलान करे तो अपना स्वतन्त्रस्वभाव प्रतीति में आवे कि अहो! किसी बाह्य संयोग में मेरा सुख नहीं; सुख तो मेरा अपना स्वभाव है। अकेला मेरा स्वभाव ही सुख का कारण है—ऐसी समझ होने से सम्यग्दर्शन होता है।

☞ अरिहन्त भगवान को पहिचानने से अतीन्द्रियसुख की पहिचान होती है और इन्द्रिय विषयों में से सुखबुद्धि मिट जाती है।

www.vitragvani.com

☞ अरिहन्त भगवान को पूर्व में अज्ञानदशा थी, पश्चात् ज्ञानदशा प्रगट हुई; इन अज्ञान और ज्ञान दोनों दशाओं में अरिहन्त को जो टिक रहा है, वह आत्मद्रव्य है। जो आत्मा पहले अज्ञानदशा में था, वही अभी ज्ञानदशा में है—ऐसे पहले-पश्चात् की जोड़रूप जो धारावाही पदार्थ, वह द्रव्य है। पर्याय पहले-पश्चात् की जोड़रूप नहीं परन्तु पृथक्-पृथक् है। पहली अवस्था, वह दूसरी नहीं; दूसरी अवस्था, वह तीसरी नहीं—इस प्रकार अवस्था में परस्पर पृथक्ता है और द्रव्य तो जो पहले समय में था, वही दूसरे समय में है; दूसरे समय में था, वही तीसरे समय में है—ऐसे द्रव्य में धारावाहीपना है। इस प्रकार पहिचाने तो अकेली पर्यायबुद्धि मिट जाये और स्वसन्मुखता हो जाये।

☞ किस अवस्था के समय द्रव्यसामर्थ्य नहीं है ? सभी अवस्था के समय द्रव्यसामर्थ्य ऐसा की ऐसा एकरूप है। जितना अरिहन्त भगवान का द्रव्यसामर्थ्य है, उतना ही अपना द्रव्यसामर्थ्य है—ऐसी पहिचान करने से ऐसी प्रतीति होती है कि अभी मुझे अपूर्ण दशा होने पर भी, अरिहन्त भगवान जैसी पूर्ण दशा भी मुझमें से ही प्रगट होनी है और उस पूर्णदशा में भी मैं ही कायम रहनेवाला हूँ।

☞ द्रव्य का विशेषण, वह गुण है; जैसे कि सोना कैसा ? कि सोना पीला, सोना भारी, सोना चिकना; उसी प्रकार आत्मद्रव्य कैसा ? आत्मा ज्ञानस्वरूप, आत्मा दर्शनस्वरूप, आत्मा चारित्रस्वरूप; इस प्रकार ज्ञानादि विशेषण आत्मद्रव्य को लागू पड़ते हैं; इसलिए वे आत्मा के गुण हैं। जितने गुण अरिहन्त

www.vitragvani.com

भगवान के आत्मा में हैं, उतने ही गुण इस आत्मा में हैं। अरिहन्त के और आत्मा के द्रव्य-गुण में अन्तर नहीं है, पर्याय में जो अन्तर है, वह द्रव्य के अवलम्बन से मिट जाता है।

☞ अरिहन्त जैसे होने का उपाय क्या? अरिहन्त भगवान जैसा ही अपना द्रव्य-गुण है—ऐसा पहिचान कर, उसका अवलम्बन करना, वह अरिहन्त जैसा होने का उपाय है।

☞ जितने अरिहन्त हुए हैं, उन सब अरिहन्त भगवन्तों ने अपने द्रव्य का अवलम्बन करके ही अरिहन्तदशा प्रगट की है तथा सर्व जीवों के लिये स्वयं के द्रव्य का अवलम्बन करना ही सम्यग्दर्शन और अरिहन्तपद का उपाय है।

☞ इस आत्मा का स्वभाव, अरिहन्त भगवान जैसा किस प्रकार है? यह जाने बिना दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा या शास्त्र-अभ्यास इत्यादि चाहे जितना करे, तथापि किसी प्रकार धर्म नहीं होता। धर्म करने के लिये शुरुआत का कर्तव्य यह है कि अरिहन्त भगवान का और उनके जैसे अपने आत्मा का निर्णय करना।

☞ अरिहन्त भगवान के स्वभाव में और आत्मा के स्वभाव में निश्चय से कुछ भी अन्तर माने तो वह जीव पामर है-मिथ्यादृष्टि है, उसे धर्म नहीं होता।

☞ अरिहन्त भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय को लक्ष्य में लेने से अपने परमार्थस्वरूप का ख्याल आता है; भगवान के द्रव्य-गुण पूर्ण हैं और उनकी पर्याय सम्पूर्ण ज्ञानमय है—ऐसा निर्णय करने से मेरे द्रव्य-गुण तो पूर्ण हैं और पर्याय

www.vitragvani.com

सम्पूर्ण ज्ञानरूप विकाररहित होना चाहिए—ऐसी प्रतीति होती है; और उस प्रतीति के जोर से पूर्णता की ओर का पुरुषार्थ शुरु होता है।

☞ 'पूर्णता के लक्ष्य से शुरुआत' अर्थात् जैसे अरिहन्त, वैसा मैं—ऐसे लक्ष्य से धर्म की शुरुआत होती है। स्वभावसामर्थ्य की पूर्णता भासित हुए बिना किसके सहारे धर्म करेगा? पामरता के सहारे धर्म की शुरुआत नहीं होती परन्तु अपनी प्रभुता को पहचानकर उसके जोर से प्रभुता का पुरुषार्थ प्रगट होता है। अपनी प्रभुता को जाने बिना धर्म का सच्चा उल्लास नहीं आता। अरिहन्त भगवान के साथ तुलना करके, जीव अपने आत्मस्वरूप को निर्णीत करता है कि जैसे अरिहन्त भगवान हैं, वैसा ही मैं हूँ। इस प्रकार अरिहन्त के स्वरूप को जानने से जीव स्वसमय को जान लेता है और स्वसमय को जानने से उसका मोह टल जाता है-यह अपूर्व धर्म की शुरुआत है।

☞ अरिहन्त भगवान की पर्याय में राग का अभाव है, इसलिए राग, वह आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं—इस प्रकार अरिहन्त भगवान को पहिचानने से आत्मा और राग का भेदज्ञान होता है।

☞ ज्ञानपर्याय एक समयमात्र की ही होने पर भी, उसमें त्रिकाली द्रव्य का निर्णय करने की सामर्थ्य है। सर्वज्ञ भगवान के परिपूर्ण द्रव्य-गुण-पर्याय को तथा वैसे अपने आत्मा को निर्णय में ले ले, ऐसी सामर्थ्य ज्ञान की ही है; राग में ऐसी सामर्थ्य नहीं है। अन्तर्मुख होकर त्रिकाली स्वभाव के साथ तन्मय हो जाये—ऐसी

www.vitragvani.com

एक समय की ज्ञानपर्याय की ताकत है परन्तु किसी भी राग में ऐसी ताकत नहीं कि अन्तर्मुख होकर ज्ञानस्वभाव के साथ तन्मय हो सके!

☞ **अरिहन्त भगवान का आत्मा सर्वतः विशुद्ध है; उनकी पर्याय भी अनन्त चैतन्यशक्ति सम्पन्न है—ऐसा लक्ष्य में लिया, उस समय स्वयं को वैसी पूर्ण शुद्धपर्याय नहीं वर्तती परन्तु राग वर्तता है, तथापि राग, वह मेरी अवस्था का मूलस्वरूप नहीं; मेरी अवस्था, अरिहन्त भगवान जैसी अनन्त चैतन्य शक्ति सम्पन्न, रागरहित होनी चाहिए—ऐसा निर्णय होता है और ऐसा निर्णय होने से राग के साथ की एकत्वबुद्धि छूटकर स्वभाव के साथ एकत्वबुद्धि होती है; अर्थात् सम्यग्दर्शन होता है और अरिहन्त प्रभु जैसी शुद्धता का अंश अपने में प्रगट होता है—वह जीव, अरिहन्त होने के लिये अरिहन्त के मार्ग में चलने लगा है।**

☞ जिस ज्ञानपर्याय ने अरिहन्त भगवान के आत्मा का निर्णय किया, उसमें अपने त्रिकाली स्वरूप का निर्णय करने की भी ताकत है। त्रिकाली वस्तु का निर्णय करने में त्रिकाल जितना समय नहीं लगता परन्तु वर्तमान एक पर्याय द्वारा त्रिकाली वस्तु का निर्णय होता है।

☞ **जीव को सुख चाहिए; इस जगत में सम्पूर्ण सुखी श्री अरिहन्त प्रभुजी हैं; इसलिए 'सुख चाहिए है' इसका अर्थ यह हुआ कि अरिहन्त भगवान जैसी दशारूप अपने को होना है। जिसने अरिहन्त भगवान को पहिचाना हो तथा**

www.vitragvani.com

अपने आत्मा को अरिहन्त भगवान जैसा जाना हो, वही अरिहन्त भगवान जैसी दशारूप होने की भावना करता है। इस प्रकार अरिहन्त भगवान को पहिचाने बिना सुख का सच्चा उपाय नहीं बन सकता।

☞ मुझे अरिहन्त भगवान जैसा पूर्ण सुख प्रगट करना है, अर्थात् अरिहन्त भगवान जैसी सामर्थ्य मेरे आत्मा में है-ऐसा जिसने स्वीकार किया, उसने अरिहन्त भगवान जैसे द्रव्य-गुण-पर्याय के अलावा सब अपने में से निकाल दिया—अर्थात् वह मेरा स्वरूप नहीं-ऐसी प्रतीति की। आत्मा, पर का कुछ करे, निमित्त से लाभ-नुकसान हो या शुभभाव से धर्म हो-ये सब मान्यताएँ मिट गयीं, क्योंकि अरिहन्त भगवान के आत्मा में ये कुछ नहीं है।

☞ अरिहन्त भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप जानने से अपने आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय पहिचाने जाते हैं; इस प्रकार आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानकर, सभी पर्यायों को और गुणों को एक चैतन्यद्रव्य में ही अन्तर्गत करने से एकाकार चैतन्यद्रव्य ही लक्ष्य में रह जाता है, उस क्षण सर्व विकल्पों की क्रिया रुक जाती है और मोह का नाश होकर अपूर्व सम्यग्दर्शन होता है—चैतन्य चिन्तामणि प्राप्त होता है।

☞ अरिहन्त भगवान के साथ तुलना करके आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय का वास्तविकस्वरूप जिसने निर्णीत किया हो, वह गुण-पर्यायों को एक परिणमते द्रव्य में समाहित करके द्रव्य को अभेदरूप से लक्ष्य में ले सकता है। अरिहन्त जैसे अपने द्रव्य-

www.vitragvani.com

गुण-पर्याय को जानकर, जिसने गुण-पर्यायों को एक द्रव्य में अन्तर्गत किया, उसने पर्याय को अन्तर्मुख करके आत्मा को अपने स्वभाव में ही धार रखा, वहाँ मोह किसके आधार से रहेगा ? — इसलिए निराश्रय होता हुआ मोह उसी क्षण क्षय को प्राप्त होता है। जितनी द्रव्य-गुण-पर्याय की एकता हुई, उतना धर्म है।

☞ **जिस क्षण अभेद चैतन्यद्रव्य की ओर ज्ञान ढला, उसी क्षण पर्यायभेद तथा गुणभेद, इन दोनों का लक्ष्य एक ही क्षण छूट गया है। अभेदस्वभाव की ओर झुके हुए ज्ञान में से भेद का विकल्प छूट गया है। निर्विकल्प होकर ऐसे अभेद चैतन्य का अनुभव करना, उसमें अपूर्व पुरुषार्थ है, आत्मा का परम आनन्द है।**

☞ देखो, यह ज्ञान की सामर्थ्य! अहो! एक समय की ज्ञानपर्याय में अनन्त केवली भगवन्तों का निर्णय करने की ताकत है। जिस ज्ञान ने अरिहन्त भगवान के केवलज्ञान का निर्णय किया है, वह ज्ञान अपने स्वभाव का भी निर्णय करता है-ऐसी उसकी ताकत है।

☞ **वस्तु का वास्तविक स्वरूप जैसा हो, वैसा माने तो वस्तुस्वरूप और मान्यता दोनों एक होने से सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान होते हैं। आत्मा का वास्तविकस्वरूप क्या है, यह जानने के लिये अरिहन्त भगवान को पहिचानने की आवश्यकता है, क्योंकि अरिहन्त भगवान, द्रव्य-गुण-पर्याय से सम्पूर्ण शुद्ध हैं। जैसे अरिहन्त भगवान हैं, वैसा जब तक यह आत्मा न हो, तब तक इसकी पर्याय में दोष है-अशुद्धता है। अरिहन्त**

www.vitragvani.com

भगवान जैसी अवस्था कब होगी ? पहले अरिहन्त भगवान जैसा अपने आत्मा का शुद्धस्वरूप निर्णीत करे, तब सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रगट होते हैं, अर्थात् अरिहन्त भगवान जैसा अंश प्रगट होता है और पश्चात् उस शुद्धस्वरूप में लीन होने पर, सर्व मोह का नाश होकर साक्षात् अरिहन्त भगवान जैसी दशा हो जाती है।

☞ अरिहन्त भगवान जैसा ही मेरा स्वरूप है—ऐसा पहिचानने पर स्वरूप में भी निःशंकता हो जाती है; यदि अपने स्वभाव की निःशंकता न हो तो अरिहन्त के स्वरूप का भी यथार्थ निर्णय नहीं है। जिसने अरिहन्त का और अरिहन्त जैसे अपने स्वरूप का निर्णय किया, उसने मोहक्षय का उपाय प्राप्त कर लिया है। सम्यक्त्व-चिन्तामणि रत्न प्राप्त कर लिया है।

☞ अहो! जिसे अरिहन्त भगवान जैसे पूर्ण स्वरूपी आत्मा का साक्षात् अनुभव है तो फिर उसके पास क्या नहीं है ? भले पंचम काल हो और साक्षात् अरिहन्त भगवान का विरह हो, परन्तु जिसने अन्तर में अरिहन्त भगवान जैसे अपने स्वभाव का अनुभव किया है, उसने समस्त मोह की सेना को जीतने का उपाय प्राप्त कर लिया है। इस प्रकार धर्मी को निःशंकता होती है कि मेरा स्वभाव, मोह का नाशक है।

☞ अरिहन्त भगवान सर्वथा मोहरहित हो गये हैं और उन अरिहन्त भगवान जैसा आत्मा का स्वभाव है, ऐसी जिसने प्रतीति की है, उसे भी अल्प काल में ही समस्त मोह का नाश हो जाता है। धर्मी जानता है कि अरिहन्त भगवान जैसा मेरा स्वभाव है; वह

www.vitragvani.com

स्वभाव, मोह का नाशक है और स्वभाव की प्राप्ति तो मुझे हुई है; इसलिए मोह का सर्वथा क्षय होगा। इसमें शंका नहीं होती। हमारे आत्मा में सभी सामर्थ्य है—ऐसे जोर से मोह को सर्वथा क्षय करके केवलज्ञान प्रगट करके साक्षात् अरिहन्त हो जाऊँगा।

हे जीवों! अरिहन्त को पहिचान कर अरिहन्त बनो। ●

...ऐसा परम उपकार मुझ पर किया है

जैसे, कोई व्यक्ति, समुद्र के बीच में डूबकी खा रहा हो तो उसका एक ही लक्ष्य है कि मैं समुद्र में डूबने से कैसे बचूँ? वहाँ यदि कोई सज्जन आकर उसे बचाता है तो कैसी उपकारबुद्धि होती है? अहा! इन्होंने मुझे समुद्र में डूबने से बचाया, इन्होंने मुझे जीवन दिया, इस प्रकार महाउपकार मानता है। इसी प्रकार भवसमुद्र में गोते खा-खाकर थके हुए जीव का एक ही लक्ष्य है कि मेरा आत्मा इस संसार समुद्र से किस प्रकार बचे? वहाँ कोई ज्ञानी पुरुष उसे तिरने का उपाय बतावें तो वह प्रमादरहित होकर, उल्लसितभाव से उस उपाय को अङ्गीकार करता है।

जिस प्रकार डूबते हुए मनुष्य को कोई जहाज में बैठने के लिए कहे तो क्या वह जरा भी प्रमाद करेगा? नहीं करेगा। इसी प्रकार संसार से तिरने के अभिलाषी आत्मार्थी जीव को ज्ञानी सन्त, भेदज्ञानरूपी जहाज में बैठने को कहते हैं, वहाँ वह आत्मार्थी जीव, भेदज्ञान में प्रमाद नहीं करता और भेदज्ञान का उपाय दर्शानेवाले सन्तों के प्रति उसे महान् उपकारबुद्धि होती है कि हे नाथ! अनन्त जन्म-मरण के समुद्र में से आपने मुझे बाहर निकाला। भवसमुद्र में डूबते हुए मुझे आपने बचाया। संसार में जिसका कोई प्रत्युपकार नहीं है - ऐसा परम उपकार आपने मुझ पर किया है।

www.vitragvani.com

राम को प्रिय चन्द्रमा

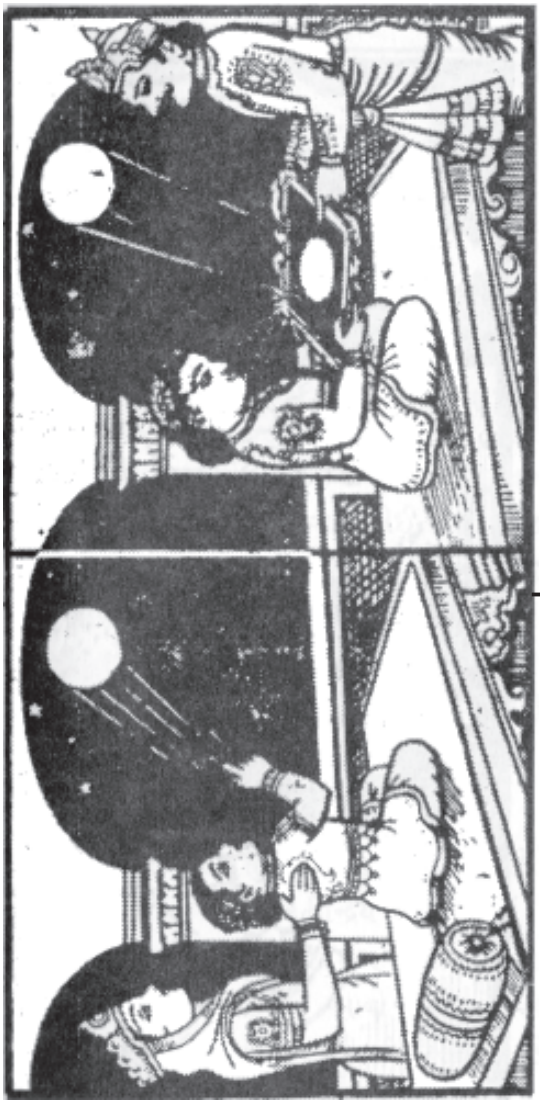

छोटे से रामचन्द्रजी के हृदय में आकाश में से चन्द्रमा लेकर जेब में डालने का मन हुआ.... और इसके लिए चन्द्र के सन्मुख देखकर उसे नीचे बुलाने की चेष्टा करने लगे।

अनुभवी दीवानजी ने राम का अभिप्राय जानकर, स्वच्छ दर्पण में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब बतलाया; चन्द्रमा अपने हाथ में आया देखकर राम प्रसन्न हुए।

www.vitragvani.com

.....साधक को प्रिय सिद्ध

उसी प्रकार सिद्ध परमात्मा की परम महिमा सुनते हुए साधक-मुमुक्षु को उसकी भावना जागृत होती है... और सिद्ध भगवान के सन्मुख देखकर बुलाता है कि सिद्ध भगवान! आप यहाँ पधारो।

तब अनुभवी धर्मात्मा उसे समझाते हैं कि हे आत्माराम! तू तेरे ज्ञान दर्पण को स्वच्छ करके उसमें देख... तुझमें ही अन्तर्मुख देख तो सिद्धपना तुझे तुझमें ही दिखायी देगा और परम आनन्द होगा।

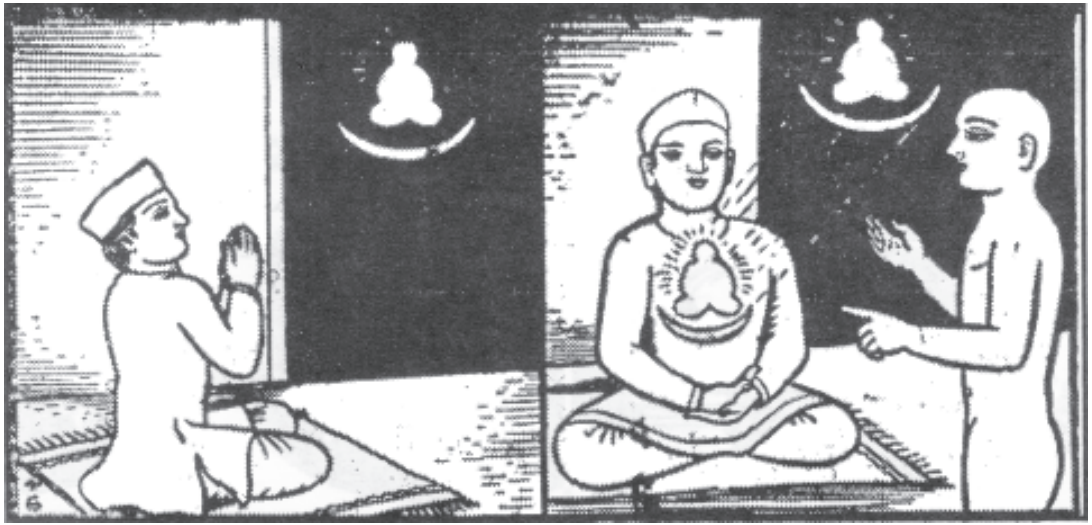

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

हे जीव! तू स्वद्रव्य को जान..

वीतरागी सन्त कहते हैं कि हे जीव! यदि अपना हित चाहता हो तो स्वद्रव्य को जान! क्योंकि तेरा हित तेरे स्वद्रव्य के आश्रय से ही है; परद्रव्य के आश्रय से तेरा हित नहीं है। इसलिए जिसे अपना हित करना हो, जिसे मोक्षमार्ग प्रगट करना हो, जिसे सुखी होना हो, वे स्वद्रव्य और परद्रव्य को भिन्न-भिन्न जानो; भिन्न जानकर परद्रव्य का आश्रय छोड़ो और स्वद्रव्य का आश्रय करो।

भगवान आत्मा, देह से भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप वस्तु है; वह अपने को भूलकर अपने अतिरिक्त किसी भी दूसरे पदार्थ के आश्रय से सुख होना माने तो उसमें मिथ्यात्व का सेवन होता है; इसलिए दुःख होता है। आचार्यदेव समझाते हैं कि हे भाई! तेरा स्वभाव तुझसे परिपूर्ण है, तेरे ही आश्रय से तेरी मुक्ति होती है; किसी दूसरे का आश्रय करने से तो अशुभ या शुभराग से बन्धन और दुःख ही होता है; मुक्ति का मार्ग, पर के आश्रय से नहीं; मुक्ति, स्वद्रव्य के आश्रित है।

तू जीव है! तो तेरा जीवत्व कैसा है? तेरा जीवन कैसा है? उसकी बात है। तू स्वयं अतीन्द्रिय आनन्दरस का पूर है। शरीर तो जड़ है, और अन्दर के पुण्य-पाप के रागभाव भी अशुचि है, उनमें चैतन्य का आनन्द नहीं है। वे पराश्रित भाव, मुक्ति का कारण नहीं हो सकते; मुक्ति का मार्ग चैतन्यमय स्वद्रव्य के आश्रित है। शुद्ध आत्मा को जो नहीं पहचानते, उसके सन्मुख होकर सच्चे श्रद्धा-

www.vitragvani.com

ज्ञान-चारित्र प्रगट नहीं करते और पराश्रित शुभभावरूप व्यवहार श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र को मोक्ष का कारण समझकर सेवन करते हैं, उन्हें कदापि मोक्षमार्ग नहीं मिलता। भाई! तू स्वद्रव्य को जानकर उसका आश्रय कर, तो ही मोक्षमार्ग प्रगट होगा। स्वद्रव्य और परद्रव्य की भिन्नता को पहचानकर स्वद्रव्य के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है।

देखो, ऐसी बात श्रीमद् राजचन्द्रजी ने छोटी उम्र में (17 वर्ष की आयु से पहले) ही लिखी है। उन्हें सात वर्ष की उम्र में तो जातिस्मरण में पूर्वभव का ज्ञान हुआ था; आत्मा इस भव से पहले कहाँ था—इसका ज्ञान हो सकता है। अपने यहाँ राजुल बहिन को भी, ढाई वर्ष की उम्र में पूर्वभव में जूनागढ़ में गीता थी, उसका जातिस्मरणज्ञान हुआ है। इससे भी विशेष चार भव का ज्ञान चम्पाबेन को है; उनकी बात गहरी है। आत्मा की अपार सामर्थ्य है, उसे पहचानकर उसमें रमणता करने से अपूर्व आनन्द का अनुभव होता है। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने सत्रह वर्ष की उम्र से पहले जो 125 बोध वचन लिखे हैं, उनमें स्वद्रव्य का आश्रय करने और परद्रव्य का आश्रय छोड़ने के दस बोल बहुत सरस हैं।

निश्चय का आश्रय करो और व्यवहार का आश्रय छोड़ो—ऐसा जो समयसार का आशय है, वह आशय श्रीमद् राजचन्द्रजी ने नीचे के दस बोल में बतलाया है। उनमें प्रथम तो कहते हैं कि —

स्वद्रव्य और अन्य द्रव्य को भिन्न-भिन्न देखो।

इस प्रकार दोनों को भिन्न-भिन्न जानकर क्या करना? इसके लिए दस बोल में सरस स्पष्टीकरण लिखा है—

www.vitragvani.com

*** स्वद्रव्य के रक्षक शीघ्रता से होओ।**

*** स्वद्रव्य के व्यापक शीघ्रता से होओ।**

*** स्वद्रव्य के धारक शीघ्रता से होओ।**

*** स्वद्रव्य के रमक शीघ्रता से होओ।**

*** स्वद्रव्य के ग्राहक शीघ्रता से होओ।**

*** स्वद्रव्य की रक्षकता पर लक्ष्य रखो।**

अर्थात् निश्चय का आश्रय करो... शीघ्रता से करो.... बाद में करूँगा—ऐसा विलम्ब मत करो, परन्तु शीघ्रता से स्वद्रव्य को पहचानकर उसका आश्रय करो, उसकी रक्षा करो और उसमें व्यापक बनो; परन्तु राग के रक्षक न बनो, राग में व्यापक न बनो। पहले कुछ दूसरा कर लें और बाद में आत्मा की पहिचान करेंगे – ऐसा कहनेवाले को आत्मा की रुचि नहीं, आत्मा की रक्षा करना उसे आता नहीं।

श्रीमद् राजचन्द्रजी छोटी उम्र में भी कितना सरस कहते हैं! देखो तो सही! वे कहते हैं कि हे जीवो! तुम शीघ्रता से स्वद्रव्य के रक्षक बनो... तीव्र जिज्ञासा द्वारा स्वद्रव्य को जानकर उसके रक्षक बनो। उसमें व्यापक बनो, उसके धारक बनो—ज्ञान में उसे धारण करो; उसमें रमण करनेवाले बनो, उसके ग्राहक बनो; इस प्रकार सर्व प्रकार से स्वद्रव्य पर लक्ष्य रखकर उसकी रक्षा करो। इस प्रकार निश्चय का ग्रहण करने को कहा।

अब दूसरे चार वाक्यों में व्यवहार का और पर का आश्रय छोड़ने को कहते हैं—

www.vitragvani.com

*** परद्रव्य की धारकता शीघ्रता से तजो।**

*** परद्रव्य की रमणता शीघ्रता से तजो।**

*** परद्रव्य की ग्राहकता शीघ्रता से तजो।**

*** परभाव से विरक्त होओ।**

विकल्प से—शुभराग से—आत्मा को कुछ लाभ होगा—ऐसी मान्यता छोड़कर; परद्रव्याश्रित जितने भाव हैं, वे भाव आत्मा में धारण करनेयोग्य नहीं हैं, उनकी धारकता शीघ्रता से छोड़नेयोग्य है। लोग कहते हैं कि अभी व्यवहार छोड़ने का मत कहो। — यहाँ तो कहते हैं कि उसे शीघ्र छोड़ो। जितने परद्रव्याश्रित भाव हैं, वे सब शीघ्र छोड़नेयोग्य हैं—ऐसा लक्ष्य में तो लो।

हे जीव! अन्तर में आनन्द का सागर तेरा आत्मा कैसा है, उसे खोज। स्वद्रव्य को छोड़कर, परद्रव्य में रमना, वह तुझे शोभा नहीं देता, उसमें तेरा हित नहीं है। अन्तर्मुख होकर स्वभाव में रमण कर... उसमें तेरा हित और शोभा है। वही मोक्ष का मार्ग है। ●

जो करे... वह पावे

हे भाई! यदि तेरे ज्ञानस्वरूप की अनुभूति तूने नहीं की तो शास्त्र पढ़-पढ़कर या सुन-सुनकर तूने क्या सार निकाला? वाँचन-श्रवण का सार तो यह है कि परभावों से भिन्न होकर ज्ञानभावरूप परिणमना। जिसका वाँचन-श्रवण किया, उस शास्त्र में तो ऐसा कहा है कि 'तू तेरे ज्ञानस्वरूप का अनुभव कर।' तद्नुसार जो करे, वही सिद्धि को पाता है, वही सम्यग्दर्शनादि शुद्धभावरूप होता है और उसका ही ज्ञान सफल है; इसलिए तू ज्ञानचेतनारूप हो।

www.vitragvani.com

सन्त बतलाते हैं..... रत्नों की खान

देखो तो सही! सन्तों को आत्मा की प्रभुता का कितना प्रेम है! आत्मा तो अनन्त गुण-रत्नों से भरपूर महारत्नाकर है। समुद्र को रत्नाकर कहा जाता है। आत्मा अनन्त गुण से भरपूर समुद्र—चैतन्य रत्नाकर है; उसमें इतने रत्न भरे हैं कि एक-एक गुण का क्रमशः कथन करने पर कभी पूर्ण न हो। आत्मा चैतन्य रत्नाकर तो सर्वाधिक महान है।

★ **रत्न :** सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, ये मोक्षमार्ग के तीन रत्न हैं।

★ **महा रत्न :** इस रत्नत्रय के फल में केवलज्ञानादि प्रगट होते हैं, वे महा रत्न हैं।

★ **महान से भी महान रत्न :** ज्ञानादि एक-एक गुण में अनन्त केवलज्ञान रत्नों की खान भरी है, इसलिए वह महा-महा रत्न है।

★ **महा-महा-महारत्न :** ऐसे अनन्त गुण-रत्नों की खान आत्मा तो महा-महा-महा रत्न है। उसकी महिमा की क्या बात!

भाई! ऐसा महिमावन्त रत्न तू स्वयं है। महान रत्नों की खान तुझमें भरी हुई है। इसके अतिरिक्त परचीज़ तुझमें नहीं; वह चीज़ तेरी नहीं; व्यर्थ की पर की चिन्ता तूने तेरे गले लगायी है। वास्तव में जो तेरा हो, वह तुझसे कभी भिन्न नहीं पड़ता और तुझसे भिन्न पड़े, वह वास्तव में तेरा नहीं होता। क्या ज्ञान, स्वभाव से कभी भिन्न पड़ेगा? —नहीं; क्योंकि वह आत्मा से भिन्न नहीं है, वह तो आत्मा ही है। शरीरादि आत्मा के नहीं, इसलिए वे आत्मा से भिन्न

www.vitragvani.com

पड़ जाते हैं। पहले से ही भिन्न थे, इसलिए भिन्न पड़े; एकमेक हो गये होते तो भिन्न नहीं पड़ते। इसी प्रकार ज्ञान और राग भी एकमेक नहीं हो गये हैं, भिन्नरूप ही रहे हैं; इसलिए भिन्न हो जाते हैं। प्रज्ञाछैनी द्वारा राग तो आत्मा से बाहर निकल जाता है और ज्ञान अन्तर में एकमेक रह जाता है—ऐसा भेदज्ञान करे तो आत्मा की सच्ची प्रभुता पहिचानने में आवे।

अहो, परमेश्वर-तीर्थंकर परमात्मा की दिव्यवाणी में भी जिसकी महिमा पूरी नहीं पड़ती, ऐसी चैतन्य हीरा तू है। तेरे एक-एक पासा में (प्रत्येक गुण में) अनन्त ताकत छलके-ऐसे अनन्त पासा से झलकती तेरी प्रभुता! अनन्त शक्ति के वैभव से भरपूर आत्मा का धाम-ऐसा भगवान तू स्वयं! परन्तु तेरी नजर की आड़ से तू तुझे नहीं देखता, हरि तू स्वयं है, वह हरि स्वयं से जरा भी दूर नहीं है, तथापि उसके भान बिना अनन्त काल व्यतीत हुआ। भाई! अब तो जाग! जागकर अपने में देख! अन्दर में नजर करते ही 'मेरो प्रभु नहीं दूर देशान्तर, मोहि में है, मोहे सूझते नीके'—ऐसी तुझमें ही तुझे तेरी प्रभुता दिखेगी। ज्ञानस्वरूप में दृष्टि करने से आत्मा हाथ में आता है; उसका अनुभव होता है।

आत्मा जाननहार है, तथापि स्वयं, स्वयं को अनुभव क्यों नहीं करता? ज्ञान को स्वसन्मुख नहीं करता, इसलिए आत्मा अनुभव में नहीं आता। अनन्त शक्ति का परमेश्वर है तो स्वयं ही, परन्तु स्वयं अपने को भूल गया है। ३८ वीं गाथा में कहा था कि जैसे कोई मुट्ठी में रखे हुए स्वर्ण को भूल गया हो और बाहर ढूँढता हो, वह फिर याद करके स्वर्ण को अपनी मुट्ठी में ही देखे कि अरे, यह

www.vitragvani.com

रहा सोना, मेरी मुट्ठी में ही है! उसी प्रकार अनादि अज्ञान से जीव अपने परमेश्वर-आत्मा को भूल गया था, परन्तु श्रीगुरु के वीतरागी उपदेश से बारम्बार समझाये जाने पर उसे अपनी प्रभुता का भान हुआ, सावधान होकर अपने में ही अपनी प्रभुता जानी कि अहो! अनन्त शक्ति की परमेश्वरता तो मुझमें ही है, मैं ही प्रभु हूँ, परद्रव्य अंशमात्र मेरा नहीं; मेरे भिन्नस्वरूप के अनुभव से मैं प्रतापवन्त हूँ—इस प्रकार अपनी प्रभुता को जानकर, उसका श्रद्धान करके तथा उसमें तन्मयरूप से लीन होकर, सम्यक् प्रकार से आत्माराम हुआ.... स्वयं अपने को अनन्त शक्ति सम्पन्न ज्ञायकस्वभावरूप अनुभवता हुआ प्रसिद्ध हुआ। मोह का नाश होकर ज्ञानप्रकाश प्रगट हुआ।

देखो, इसका नाम ज्ञाता-दृष्टा; इसका नाम अनुभवदशा; ऐसी दशा होने पर, स्वयं को स्वयं का अनुभव होता है और स्वयं को उसके आनन्द का पता पड़ता है। आहा! परमेश्वर का जहाँ साक्षात्कार हुआ—उस दशा की क्या बात! ज्ञानसमुद्र भगवान आत्मा प्रगट हुआ-वह कहता है कि अहो! सभी जीव ऐसे आत्मा का अनुभव करो; सभी जीव आत्मा के शान्तरस में मग्न हो जाओ। शान्तरस का समुद्र स्वयं में उल्लसित हुआ है, वहाँ कहते हैं कि सभी जीव उस शान्तरस के समुद्र में सराबोर हो जाओ। ●

हे जीवो!

तुम अरिहन्त भगवान को पहिचानो और अरिहन्त जैसे अपने आत्मा को पहचानकर उसकी साधना द्वारा तुम भी अरिहन्त बनो।

www.vitragvani.com

वैराग्य सम्बोधन

(एक वैराग्य पत्र)

आत्मा को ज्ञानशरीर से भिन्न करने के लिये कोई समर्थ नहीं है। क्षणिक प्रसंगों से घबड़ाकर दीन हो जाना शोभा नहीं देता।

★ धैर्यवन्त जीव को किसी भी प्रसंग को बहुत ही वैराग्य का कारण बनाकर सच्ची आत्मशान्ति प्रगट करने की ओर आत्मा को लगाना। संसार तो बहुत देखा—परन्तु सार कुछ नहीं निकला, तो अब सार निकले ऐसा करनेयोग्य है। जहाँ शरीर और पुत्र भी आत्मा के नहीं, वहाँ दूसरा कौन आत्मा का है? जिसके लिये जीवन का कीमती समय दें?

★ अहो, ऐसा अपना जैनधर्म! वह अपने को कदम-कदम पर परम वीतरागता सिखलाता है। आत्मा में कोई अपार ताकत है; ज्ञान की-वैराग्य की-आनन्द की अपार ताकत आत्मा में है; क्षणिक छोटे प्रसंगों से घबराकर दीन हो जाना आत्मा को शोभा नहीं देता।

★ ज्ञानी-सन्त पुकार करके कहते हैं कि अरे वीर! तू जाग! उठ! तेरी प्रभुता को सम्हाल। तेरा चैतन्य जीवन नष्ट नहीं हो गया; जीता-जागता चैतन्य भगवान तू है, तीन लोक की प्रतिकूलता का ढेर भी आत्मा को उसके ज्ञानशरीर से भिन्न करने में समर्थ नहीं है। घबरा मत, हताश मत हो।

★ वीतराग की भावना द्वारा ही भव का नाश होता है। ऐसी भावना के लिये सन्त पुरुषों के निकट बसना, वह अच्छा है,

www.vitragvani.com

क्योंकि वहाँ के वातावरण में वीतरागता ही घुलती है। संसार में तो मोह ही घुँटता है; सत्संग में, मन में से संसार के विचार छूटकर कोई अलग ही शान्ति का अनुभव होता है। संसार से संतृप्त आत्मा को सच्चे वैराग्यरस द्वारा सिंचन करके ज्ञानियों के पन्थ में आगे बढ़ना—यही इस संसार से छूटने का मार्ग है। सन्तों ने सत्य ही कहा है कि

सुख की सहेली है अकेली उदासीनता;
अध्यात्म की जननी, रही उदासीनता॥

(भाईश्री धर्मचन्द नरभेराम कमानी के स्वर्गवास प्रसंग पर लिखा हुआ यह वैराग्य पत्र आप पढ़ रहे हैं।)

★ *गुरुदेव वैराग्य से कहते हैं कि* अरे! इस संसार में वैराग्य के ऐसे प्रसंग बना ही करते हैं। कर्मरूपी शत्रु ने जीव को हैरान करने के लिये यह शरीररूप पिंजरा बनाया है। इस पिंजरे में बन्द रहना जीव को कैसे रुचता होगा? जीव स्वयं को भूलकर इस पिंजरे को ही अपना स्वरूप मान बैठा है। इसलिए पिंजरे से जीव पृथक् पड़ने पर मिथ्या रीति से दुःखी होता है।

★ हे जीव! तू विचार तो कर कि देह का पिंजरा छूटने से तेरे आत्मा का क्या कुछ कम हो गया? यहाँ या अन्यत्र चाहे जहाँ आत्मा अपने अनन्त गुणों—ज्ञान आनन्दसहित ही सदा विराज रहा है। उसका अस्तित्व कभी मिट नहीं जाता अथवा उसका कोई गुण कम नहीं होता, फिर खेद किसका? मात्र मोह का। मोह का दुःख, मरण से भी अधिक है।

★ मुमुक्षु जीव को विचारना चाहिए कि जगत् में मृत्यु इत्यादि

www.vitragvani.com

के अनेक प्रसंग दिखने पर भी क्या वीतराग को खेद होता है? किंचित् भी नहीं। यदि वीतराग खेद नहीं करते तो मैं किसलिए खेद करके दु:खी होऊँ?—क्या मैं भी वीतराग जैसा ही नहीं? क्या मुझे वीतरागता नहीं रुचती? क्या मुझे वीतराग नहीं होना? मुझे वीतरागता रुचती है तो फिर ऐसे अल्प प्रसंग में ऐसा खेद करना मुझे शोभा नहीं देता—इस प्रकार शूरवीर होकर, हे जीव! तू वीतरागी आदर्श को अपना ले।

★ जागृत जीव स्वयं ही अपनी ताकत से चाहे जिस प्रसंग में समाधान करे वैसा है। सत्संग का वातावरण क्षण में और पल में जीव को जागृत रखकर वैराग्य की प्रेरणा दिया ही करता है। जगत् के किसी प्रसंग की ताकत नहीं कि आत्मार्थी की वैराग्य परिणति को तोड़ सके।

★ राम के द्वारा हुआ अपमान या घोर वनवास भी सीताजी की ज्ञानदशा को या वैराग्यदशा को जरा-सा भी झटका नहीं पहुँचा सका था। घोरातिघोर अपवाद या फाँसी की सजा इत्यादि उपसर्ग भी वीर सुदर्शन सेठ को वैराग्य भावना से जरा भी विचलित नहीं कर सके थे।

★ मैं ज्ञान हूँ- ऐसी निजानन्द की अनुभूति में से समकिती को जगत में कौन विचलित कर सकता है? दूर के दृष्टान्त कहाँ ढूँढ़ना? अपनी नजर के समक्ष ही ज्ञानी कैसे वीतरागभाव से शोभित हो रहे हैं! कैसा सरस है उनका आत्मभाव! हम भी उनके भक्त हैं न! उनके जैसा वीतरागभाव अपने को उनसे सीखना है, यही समाधान का उपाय है; यही शान्ति की राह है, यही कर्तव्य है। ●

www.vitragvani.com

चेत... चेत... जीव चेत!

विभावों से विरक्त होकर चैतन्य के आनन्द का स्वाद ले

(वैराग्य प्रेरक प्रवचन—कार्तिक शुक्ल 14)

अरे जीव! देह से भिन्न तेरे चैतन्य की सम्हाल तूने कभी नहीं की, यह देह तो रजकण का पिण्ड है; इसके रजकण तो रेत की तरह जहाँ-तहाँ बिखर जायेंगे—

रजकण तेरे भटकेंगे जैसे भटकती रेत;
फिर नरभव पाये कहाँ? चेत... चेत... नर चेत॥

रे जीव! तू चेतकर जागृत हो। आत्मा को जाननेवाले आठ-आठ वर्ष के राजकुमार इस संसार से वैराग्य प्राप्त करके माता के समीप जाकर कहते हैं कि हे माता! आज्ञा दे... 'अलख जगाऊँ जंगल में अकेला!' जंगल में जाकर मुनि होकर आत्मध्यान में मस्त रहूँ!

माता कहती हैं — अरे बेटा! तू तो अभी छोटा है न! अभी आठ ही वर्ष की तेरी उम्र है न!

तब पुत्र कहता है कि—माता! देह छोटी ही परन्तु इतना तो मैं जानता हूँ कि यह देह तो संयोगी चीज है, वह मैं नहीं; मैं तो अविनाशी चैतन्य हूँ, मेरे चैतन्य के आनन्द का स्वसंवेदन करके उस आनन्द को साधने के लिये मैं जाता हूँ। इसलिए हे माता! तू मुझे आज्ञा दे। इस असार संसार में मुझे अब कहीं चैन नहीं पड़ता। यह राजमहल अब सूने लगते हैं। इस प्रवृत्ति के परिणामों से अब मैं थक गया हूँ। अब तो आनन्दस्वरूप में रमणता करने की धुन जगी है; इसलिए मैं मुनि होकर आत्मा को साधकर केवलज्ञान प्राप्त करूँगा—इसलिए आनन्द से आज्ञा दे।

www.vitragvani.com

तब फिर तो माता भी आनन्द से आज्ञा देती है कि बेटा! तेरे सुख के मार्ग में मैं व्यवधान नहीं बनूँगी! तुझे सुख उत्पन्न हो वैसा कर... कहीं भी प्रतिबद्ध को प्राप्त न हो। जो तेरा मार्ग है, उसी मार्ग में हमें आना ही है।

पश्चात् वह राजकुमार, मुनि होकर श्मशान इत्यादि में अकेला जाकर आत्मा का ध्यान करता! मरण होने पर इस शरीर को दूसरे लोग उठाकर श्मशान में ले जाते हैं, उसके बदले मैं स्वयं देह का ममत्व छोड़कर श्मशान में जीवित जाकर मेरे चैतन्य हंस का साधता हूँ। इस देह की तो आज आँख और कल राख! ऐसे बनाव नजरों से दिखते हैं। अरे, ऐसे अवसर में आत्मा को नहीं साधे तो हे जीव! कब आत्मा को साधेगा?

यह देह तो जड़ है; तेरे अनन्त गुण तो तेरे चैतन्यधाम में भरे हैं—

ज्यां चेतन त्यां अनंत गुण, केवली बोले ऐम;
प्रगट अनुभव आपणो, निर्मल करो सप्रेम... रे...
चैतन्यप्रभु! प्रभुता तमारी चैतन्यधाममां....

भगवान केवली प्रभु ने दिव्यध्वनि में ऐसा कहा कि हे जीव! तेरे चैतन्यधाम में तेरे अनन्त गुण भरे हैं; उनका निर्मल प्रेम तू प्रगट कर... तेरे परिणाम को अन्तर्मुख करके अनन्त गुण के धाम को अपने में देख। अरे! जिस चैतन्य की वार्ता सुनते हुए भी हर्ष उछले, उसके साक्षात् अनुभव के आनन्द की तो क्या बात!!

भाई! करनेयोग्य होवे तो ऐसे आत्मा के अनुभव का कार्य ही करनेयोग्य है; उसी की होंश और उत्साह करनेयोग्य है; बाकी

www.vitragvani.com

बाहर के दूसरे कार्यों की या इन्द्रिय सम्बन्धी उघाड़ की होंश करनेयोग्य नहीं है। जिसमें चैतन्य के उपयोग की जागृति का घात हो, वह भावमरण है। एक देह का छोड़कर दूसरे देह में जाते हुए बीच में जीव को उपयोग की जागृति नहीं रहती; इसलिए वास्तव में उसे मरण कहा है। रास्ते में जीव के उपयोग की जो संख्या गिनायी है, वह तो उस प्रकार के उघाड़ की शक्ति है, उस अपेक्षा से कहा है परन्तु वहाँ लब्धरूप उघाड़ है, उपयोगरूप नहीं। वहाँ उपयोग का अभाव हो जाता है, इसलिए मरण कहा।

देह की क्रिया तो जड़ है। मरने के काल में बोलना चाहे परन्तु बोल न सके—वह तो कहाँ जीव के आधीन है। तेरा उपयोग तेरे आधीन है परन्तु जड़ की-इन्द्रियों की क्रिया तेरे आधीन नहीं है।

अरे भाई! तू तो वीर का पुत्र! वीरमार्ग का तू अफरगामी! और परभाव के या इन्द्रियों के स्वामित्व में तू अटक जाये, यह कोई तुझे शोभा देता है! अरे, यह तो नहीं शोभता और तेरे ज्ञान को तू अकेले इन्द्रियविषयों की ओर ही रोक दे-वह भी तुझे नहीं शोभता। अपने आनन्दस्वरूप आत्मा के अनुभव में ज्ञान को लगा... उसमें ही तेरी शोभा है। **जिसमें ज्ञान है और जिसे जानने से सुख होता है—ऐसा तो तू ही है। परचीज में-इन्द्रियों इत्यादि में ज्ञान नहीं, सुख नहीं और उन्हें जानने से तुझे भी सुख नहीं। जाननेवाले ऐसे स्वयं को जान, उसमें ही तुझे सुख है। अरे, ऐसे आत्मा को भूलकर अज्ञानी, परभाव के कर्तृत्व से दुःख में भटक रहा है।**

www.vitragvani.com

आत्मा का स्वाद तो अचलित विज्ञानघनरूप है। पुद्गल का स्वाद (खट्टा-मीठा) वह तो जड़ है; राग के स्वाद में आकुलता है, वह कषायैला-कषायवाला स्वाद है। इन दोनों स्वाद से भिन्न परम शान्तरसरूप विज्ञानघन स्वाद वह तेरा स्वाद है। स्वानुभव में ज्ञानी को ऐसे चैतन्यस्वाद का वेदन हुआ है।

जिसे अपने चैतन्य के शान्तरस का पता नहीं, उसका स्वाद चखा नहीं, वह जीव, अज्ञान से शुभ-अशुभभावों के स्वाद को अपना / आत्मा का स्वाद समझता है और इसलिए वह उन विकारी भावों का कर्ता होता है। अरे! तेरे चैतन्यपूर का एकरूप प्रवाह, उसे इन्द्रियरूपी पुल के नाले द्वारा रोककर तू खण्ड-खण्ड कर डालता है और राग के साथ मिलावट करके भिन्न चैतन्यस्वभाव को तू भूल रहा है। बापू! तेरे स्वाद में तो आनन्द होगा? या आकुलता होगी? चैतन्य खेत में तो आनन्द का अमृत पकेगा या विकार का ज़हर पकेगा? इन ज़हरीले परिणामों में अमृतस्वरूप आत्मा कैसे व्यापे? आनन्दस्वरूप आत्मा का व्याप्य (रहने का स्थान) वह ज़हररूप कैसे होगा? भाई! तेरा व्याप्य अर्थात् तेरे रहने का धाम, वह तो तेरे चैतन्यपरिणाम में है। आनन्द से भरपूर विज्ञानमय निर्मल भाव में तू रहनेवाला (व्यापक) है, वही तेरा रहने का धाम है। ऐसे धाम में आत्मा को रखना, उसमें उसकी रक्षा है; और विकार द्वारा उसकी हिंसा होती है। बापू! विकार के कर्तृत्व द्वारा तू आत्मा को मत घात... तेरे चैतन्यस्वाद को खण्डित न कर। विकार से भिन्न चैतन्यस्वाद को अखण्ड रखकर उसे अनुभव में ले। ●

www.vitragvani.com

सम्यक्त्व के लिये आनन्ददायी बात

आचार्यदेव सम्यग्दर्शन का प्रयत्न समझते हैं और शुद्ध के विकल्प से भी आगे ले जाते हैं।

श्री समयसार की 144 वीं गाथा, अर्थात् सम्यग्दर्शन का मन्त्र... मुमुक्षु को अत्यन्त प्रिय ऐसी यह गाथा आत्मा का अनुभव करने की विधि बतलाती है। इसके प्रवचनों का दोहन यहाँ प्रश्नोत्तर शैली से प्रस्तुत किया है, बारम्बार इसके भावों का गहरा मनन, मुमुक्षु जीव को चैतन्य गुफा में ले जाएगा।

प्रश्न—सम्यग्दर्शन करने के लिये मुमुक्षु को पहले क्या करना ?

उत्तर—मैं ज्ञानस्वभाव हूँ-ऐसा निश्चय करना।

वह निर्णय किसके अवलम्बन से होता है ?

श्रुतज्ञान के अवलम्बन से वह निर्णय होता है।

वह निर्णय करनेवाले का जोर कहाँ है ?

यह निर्णय करनेवाला यद्यपि अभी सविकल्पदशा में है परन्तु उसका विकल्प पर जोर नहीं है; ज्ञानस्वभाव की ओर ही जोर है।

आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि कब होती है ?

आत्मा के निश्चय के बल से निर्विकल्प होकर साक्षात् अनुभव करता है तब।

ऐसे अनुभव के लिए मतिज्ञान ने क्या किया ?

वह पर से परान्मुख होकर आत्मसन्मुख हुआ।

www.vitragvani.com

श्रुतज्ञान ने क्या किया ?

पहले जो नय पक्ष के विकल्पों की आकुलता होती थी, उससे भिन्न होकर वह श्रुतज्ञान भी आत्मसन्मुख हुआ; ऐसा करने से निर्विकल्प अनुभूति हुई, परम आनन्दसहित सम्यग्दर्शन हुआ, भगवान आत्मा प्रसिद्ध हुआ; उसे धर्म हुआ और वह मोक्ष के पंथ में गमनशील हुआ।

आत्मा कैसा है ?

आत्मा ज्ञानस्वभाव है, 'ज्ञानस्वभाव' में रागादि नहीं आते, ज्ञानस्वभाव में इन्द्रिय या मन का अवलम्बन नहीं आता; इसलिए जहाँ 'मैं ज्ञानस्वभाव'—ऐसे आत्मा का निर्णय किया, वहाँ श्रुत का झुकाव इन्द्रियों से तथा राग से परान्मुख होकर ज्ञानस्वभाव की ओर झुका। इस प्रकार ज्ञानस्वभाव की ओर झुकने से जो प्रत्यक्ष साक्षात् निर्विकल्प अनुभव हुआ, वही सम्यग्दर्शन है, वही सम्यग्ज्ञान है, वही भगवान आत्मा की प्रसिद्धि है। यह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान, वह आत्मा की पर्याय है, वे कहीं आत्मा से भिन्न नहीं हैं।

ज्ञानस्वभाव के निर्णय द्वारा अनुभव होता है ?

हाँ; ज्ञानस्वभाव का सच्चा निर्णय जीव ने कभी नहीं किया। 'ज्ञान के बल से' (नहीं कि विकल्प के बल से) सच्चा निर्णय करे तो अनुभव हुए बिना नहीं रहे। जिसके फल में अनुभव न हो, वह निर्णय सच्चा नहीं। विकल्प के काल में मुमुक्षु का जोर उस विकल्प की ओर नहीं परन्तु 'मैं ज्ञानस्वभाव हूँ'—ऐसा निर्णय करने की ओर जोर है और ऐसे ज्ञान की ओर के जोर से आगे

www.vitragvani.com

बढ़कर ज्ञान को अन्तर में झुकाकर अनुभव करने से विकल्प छूट जाता है, ज्ञान का ज्ञानरूप परिणमन होता है। उसे आनन्द कहो, उसे सम्यग्दर्शन कहो, उसे मोक्षमार्ग कहो, उसे समय का सार कहो—सब उसमें समाहित है।

आत्मा का रस कैसा है ?

आत्मा का रस अकेला विज्ञानरूप है; धर्मी जीव, विज्ञानरस के ही रसिया हैं; राग का रस, वह आत्मा का रस नहीं; जिसे राग का रस हो, उसे आत्मा के विज्ञानरस का स्वाद अनुभव में नहीं आता। राग से भिन्न ऐसे वीतराग-विज्ञानरसरूप आत्मा स्वाद में आवे, तब ही सम्यग्दर्शन है। विज्ञानरस कहो या अतीन्द्रिय आनन्द कहो—सम्यग्दर्शन में उसका स्वाद अनुभव में आता है।

मैं शुद्ध हूँ—ऐसा जो शुद्धनय का विकल्प—उसमें अटकना वह क्या है ?

वह मिथ्यादृष्टि का नयपक्ष है। सम्यग्दर्शन तो उस नयपक्ष से पार है। विकल्प की आकुलता के अनुभव में शुद्ध आत्मा का अनुभव नहीं है; सम्यग्दर्शन में शुद्ध आत्मा का निर्विकल्प अनुभव है। शुद्ध आत्मा का अनुभव करना, वह अन्तर्मुख भावश्रुत का काम है, वह कहीं विकल्प का काम नहीं। विकल्प में आनन्द नहीं, उसमें तो आकुलता और दु:ख है; भावश्रुत में आनन्द और निराकुलता है।

दूसरे विकल्पों से तो शुद्ध आत्मा का विकल्प अच्छा है न ?

धर्म के लिये तो एक भी विकल्प अच्छा नहीं है; विकल्प की

www.vitragvani.com

जाति ही आत्मा के स्वभाव से भिन्न है, फिर उसे अच्छा कौन कहे ? जैसे दूसरे विकल्प में एकत्वबुद्धि, वह मिथ्यात्व है; उसी प्रकार शुद्ध आत्मा के विकल्प में एकत्वबुद्धि, वह भी मिथ्यात्व है। समस्त विकल्पों से पार ज्ञानस्वभाव को देखना-जानना-अनुभव करना, वह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है-वही समय का सार है; विकल्प तो सब असार है। भले शुद्ध का विकल्प हो, परन्तु उसे कोई सम्यग्दर्शन या सम्यग्ज्ञान नहीं कहा जा सकता; उस विकल्प द्वारा भगवान का साक्षात्कार नहीं होता। विकल्प, वह कहीं चैतन्य दरबार में प्रवेश करने का दरवाजा नहीं है। ज्ञानबल से 'ज्ञानस्वभाव का निर्णय' वही चैतन्य दरबार में प्रवेश करने का दरवाजा है।

ज्ञान की प्राप्ति कहाँ से होती है ?

ज्ञान की प्राप्ति सर्वज्ञस्वभावी आत्मा में से होती है, ज्ञान की प्राप्ति विकल्प में से नहीं होती। अन्दर शक्ति में जो पड़ा है, वही आता है; बाहर से नहीं आता। अन्दर की निर्मल ज्ञानशक्ति में अभेद होने पर, पर्याय सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूप परिणमित हो जाती है।

सम्यग्दर्शन के लिये पहली शर्त क्या है ?

पहली शर्त यह है कि 'मैं ज्ञानस्वभाव हूँ' - ऐसा श्रुतज्ञान के अवलम्बन से निश्चय करना। सर्वज्ञ भगवान ने समवसरण में दिव्यध्वनि द्वारा जो भावश्रुत का उपदेश दिया, उस अनुसार श्रीगुरु के समीप श्रवण करके अन्दर भावश्रुत द्वारा 'ज्ञानस्वभाव, वह शुद्ध आत्मा है'—ऐसा निर्णय करके, गौतमादि जीव, भावश्रुतरूप परिणमित हुए; इसलिए 'भगवान ने भावश्रुत का उपदेश दिया'—

www.vitragvani.com

ऐसा कहा है। भगवान को तो केवलज्ञान है परन्तु श्रोता भावश्रुतवाले हैं; इसलिए भगवान ने भावश्रुत का उपदेश दिया—ऐसा कहा जाता है। सर्वज्ञ भगवान से उपदेशित श्रुत में ऐसा निर्णय कराया है कि 'आत्मा ज्ञानस्वभाव है।'—ऐसे ज्ञानस्वभाव का निर्णय करना, वह सम्यग्दर्शन के लिए पहली शर्त है।

आत्मा का निर्णय करने के बाद अनुभव के लिए क्या करना ?

आत्मा, अर्थात् ज्ञान का पिण्ड, ज्ञानपुंज; वह ज्ञानस्वरूप आत्मा, रागवाला नहीं, कर्मवाला नहीं, शरीरवाला नहीं; वह पर का करे –यह तो बात ही नहीं; ऐसे ज्ञानस्वभाव का निर्णय किया, वहाँ अब मुझे क्या करना – यह प्रश्न नहीं रहता। परन्तु जिस स्वभाव का निर्णय किया, उस स्वभाव की ओर उसका ज्ञान ढलता है। निर्णय की भूमिका में यद्यपि अभी विकल्प है, अभी भगवान आत्मा प्रगट प्रसिद्ध हुआ नहीं, अव्यक्तरूप से निर्णय में आया है परन्तु साक्षात् अनुभव में नहीं आया; उसे अनुभव में लेने के लिये क्या करना ? निर्णय के साथ जो विकल्प है, उस विकल्प में नहीं अटकना परन्तु विकल्प से भिन्न ज्ञान को अन्तर्मुख करके आत्मसन्मुख करना। विकल्प कोई साधन नहीं है, विकल्प द्वारा पर की प्रसिद्धि है; उसमें आत्मा की प्रसिद्धि नहीं है। इन्द्रियों की ओर अटका हुआ ज्ञान, आत्मा को प्रसिद्धि नहीं कर सकता–अनुभव नहीं कर सकता परन्तु उस परसन्मुखता का झुकाव छोड़कर ज्ञान को आत्मसन्मुख करना, वही आत्मा की प्रसिद्धि की विधि है, वही अनुभव का उपाय है।

www.vitragvani.com

'यह मैं ज्ञानस्वभाव आत्मा हूँ'—ऐसा ज्ञान, इन्द्रिय या मन की ओर की बुद्धि द्वारा नहीं होता, इन्द्रिय या मन की ओर की बुद्धि द्वारा तो पर का ज्ञान होता है। समस्त विकल्पों से पार होकर आत्मस्वभाव की ओर ज्ञान का झुकाव (आत्मसन्मुखता), वही सम्यक्रूप से आत्मा को देखने की ओर अनुभव करने की विधि है। उसमें स्वसंवेदन प्रत्यक्षरूप से आत्मा का श्रद्धा-ज्ञान होता है।

सम्यग्दर्शन होने पर आत्मा समस्त विश्व पर तैरता है; - तैरता है अर्थात् क्या ?

तैरता है, अर्थात् भिन्न रहता है; जैसे पानी में तैरता हुआ मनुष्य, पानी में डूबता नहीं परन्तु ऊपर रहता है; उसी प्रकार ज्ञानस्वभावरूप से स्वयं को अनुभव करता हुआ आत्मा, विकल्पों में डूबता नहीं, विकल्पों में एकाकार नहीं होता परन्तु उसके ऊपर तैरता है, अर्थात् उनसे भिन्नरूप ही स्वयं को अनुभव करता है। उसमें आत्मा की कोई अचिन्त्य परम गम्भीरता अनुभव में आती है।

सम्यक्त्व के प्रयत्न से शुरुआत किस प्रकार है ?

अपूर्व है-पूर्णता के लक्ष्य से वह शुरुआत है। 'ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय' अर्थात् पूर्णता का लक्ष्य; इस पूर्णता के लक्ष्य से शुरुआत ही वास्तविक शुरुआत है। स्वभाव के निर्णय के काल में 'ज्ञान का' अवलम्बन है, विकल्प होने पर भी उनका अवलम्बन नहीं। विकल्प द्वारा सच्चा निर्णय नहीं होता; ज्ञान द्वारा ही निर्णय होता है। ज्ञान स्वयं ज्ञानरूप हो और विकल्परूप न हो, अर्थात् आत्मसन्मुख हो, वह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की विधि है। ज्ञान स्वयं ज्ञानरूप होकर आत्मा का अनुभव करता है।

www.vitragvani.com

(प्रवचन में अत्यन्त महिमापूर्वक पूज्य गुरुदेवश्री कहते हैं कि:—) अहा! आचार्यदेव ने अनुभवदशा का अचिन्त्यस्वरूप समझाया है! ऐसे अनुभव में आनन्दपरिणति खिलती है। स्वानुभव में ज्ञान भी अतीन्द्रिय है और आनन्द भी अतीन्द्रिय है।

हे जीवों! आत्मसन्मुख होकर तुम ऐसा अनुभव करो। ●

अनन्त सिद्ध भगवन्तों के साथ में

अहो! अरिहन्त भगवान के शासन में प्राप्त होनेवाली आत्मा की बोधि परम आनन्दरूप है, उससे ऊँचा जगत में कोई नहीं है। महाभाग्य से प्राप्त हुआ ऐसा उत्तम मार्ग, उसका हे जीव! तू उत्साह से आराधन कर।

अहो, धन्य मार्ग! यह अपूर्व मार्ग मुझे साधना है; इसकी साधना से ही मुझे आत्मा का परम सुख प्राप्त होगा। भवदु:ख का नाश करनेवाला और मोक्षसुख को देनेवाला यह जैनधर्म है। इस मार्ग की साधना द्वारा अनन्त सिद्ध भगवन्तों के साथ सदा काल रहना बनेगा।

www.vitragvani.com

हे जीव! प्रज्ञा द्वारा मोक्षपंथ में आ!

प्रज्ञा अर्थात् शुद्धात्मसन्मुख झुकी हुई भगवती चेतना। भगवती प्रज्ञा द्वारा भेदज्ञान कराकर मोक्षमार्ग खोलनेवाला यह आनन्ददायी कलश जब-जब गुरुदेव के श्रीमुख से सुनते हैं, तब ऐसी 'ज्ञानचेतना' के पुरुषार्थ की तीव्र प्रेरणा जागती है... और मानो कि आचार्य भगवन्त..... मोक्ष के मार्ग में बुला रहे हों, ऐसा आत्मा उल्लसित हो जाता है। *(समयसार कलश 181 के प्रवचन में से)*

अनादि से बन्धन में बँधे हुए आत्मा को किस प्रकार छुड़ाना? छुटकारे का साधन क्या? वह विधि इस कलश में बतलाते हैं। भेदज्ञान के लिए यह अलौकिक श्लोक है। आत्मा को बन्धन से छूटने का साधन, आत्मा में है; आत्मा से भिन्न दूसरा कोई साधन नहीं है। आत्मा क्या और बन्ध क्या—इन दोनों के भिन्न लक्षण को पहचानकर जो चेतना, आत्मस्वभाव सन्मुख झुकी, वह भगवती चेतना ही बन्धन से छूटने का (अर्थात् मोक्ष का) साधन है। रागादि बन्धभाव तो आत्मस्वभाव से भिन्न हैं; वे कोई भी रागभाव, आत्मा को मोक्ष का कारण नहीं होते, उन रागभावों को तो आत्मा से भिन्न करना है। राग से भिन्न ऐसी जो चेतना (जो कि आत्मा का स्वलक्षण है), उसके द्वारा ही बन्धन से भिन्न आत्मा अनुभव में आता है; इस प्रकार चेतनारूप भगवती प्रज्ञा ही मोक्ष का कारण है। जीव का अपना शुद्धस्वरूप से परिणमना और वैसा परिणमन होने पर, कर्म का सम्बन्ध छूट जाना, इसका नाम मोक्ष है। मोह-राग-द्वेषादि अशुद्धपरिणतिरूप परिणमन होना और कर्म का सम्बन्ध

www.vitragvani.com

होना, इसका नाम बन्ध है। शुद्धपरिणमन, अर्थात् शुद्धस्वरूप का अनुभव; जिस ज्ञान द्वारा ऐसा अनुभव हो, वह ज्ञान, मोक्ष का साधन है। ऐसा अनुभव होने पर शुद्धपरिणमन हुआ, इसलिए अशुद्धपरिणमन छूट गया और पुद्गल में कर्म अवस्था छूट गयी—शुद्ध जीव अपने स्वरूप में रहा—उस दशा का नाम मोक्ष है। 'मोक्ष कह्यौ निज शुद्धता।'

—ऐसे मोक्ष का उपाय क्या? मोक्ष, वह पूर्ण शुद्धपरिणमन है और उसका कारण भी शुद्धता ही है। अशुद्धता का कोई अंश, मोक्ष का कारण नहीं होता। मोक्ष के साधन का बहुत सरस स्पष्टीकरण इस 'प्रज्ञाछैनी' के श्लोक में किया है।

तीक्ष्ण प्रज्ञाछैनी, अर्थात् तीखी ज्ञानचेतना, उग्र ज्ञानचेतना; उसे निपुण जीव, अर्थात् भेदज्ञान में अत्यन्त प्रवीण जीव, सावधान होकर आत्मा और बन्ध के बीच के सूक्ष्म भेद में इस प्रकार डालते हैं कि शीघ्र दोनों अत्यन्त भिन्न अनुभव में आते हैं; ज्ञानचेतना अन्तर्मुख होकर अपने आत्मा को रागरहित शुद्ध अनुभव करती है; ऐसा अनुभव ही मोक्ष का साधन है। जो ज्ञान के साथ राग को मिलावे-उसे शुद्ध का अनुभव नहीं होता, भेदज्ञान नहीं होता, मोक्षमार्ग नहीं होता। शुद्धपरिणमन, वह राग से सर्वथा भिन्न है। सर्वथा रागरहित शुद्ध अनुभव ही मोक्षसाधन है। राग में खड़े रहकर शुद्ध को अनुभव नहीं किया जा सकता। साधकदशा के समय भी जितने रागादिभाव हैं, वे सभी ज्ञानचेतना से भिन्न हैं; वे कोई जीव का शुद्धपरिणमन नहीं है। जीव का शुद्धपरिणमन तो ज्ञानचेतनारूप और अनन्त चतुष्टयस्वरूप है; वह राग से सर्वथा भिन्न है। द्रव्य के स्वभाव की जाति का परिणमन हो, उसे ही द्रव्य

www.vitragvani.com

का शुद्धपरिणमन कहा; रागादि अशुद्धता को द्रव्य का शुद्ध परिणमन नहीं कहते। इस प्रकार ज्ञान परिणमन और राग परिणमन की सर्वथा भिन्नता है। राग का एक भी अंश ज्ञान के परिणमन में नहीं; और ज्ञान का एक भी अंश राग में नहीं; राग, शुद्ध आत्मा का परिणमन ही नहीं तो फिर वह आत्मा की शुद्धता का साधन कैसे होगा? होगा ही नहीं।

भाई! तेरे मोक्ष का साधन तुझमें है, उसे तू पहचान तो सही! तेरी शुद्धता के भान बिना तू किसे मोक्ष का साधन बनायेगा? मोक्ष का साधन अपने में है, उसे जाने बिना जीव ने अज्ञानभाव से शुभराग को मोक्ष का साधन मानकर अनादि काल से उस बन्धभाव का ही सेवन किया है, अर्थात् मिथ्यात्व का ही सेवन किया है। राग से पार निर्विकल्प अनुभूति, मोक्षसाधन है। वह निर्विकल्प अनुभूति वचन में नहीं आती। उस वीतरागी परिणति की क्या बात! अन्तर्मुख हुआ स्वसंवेदन ज्ञान, आत्मा को शुद्धतारूप परिणमाता है, वही मोक्ष का कारण है। अकेला बाहर का जानपना भी मोक्ष का कारण नहीं, वहाँ राग की तो क्या बात! ज्ञान कैसा,— कि वीतराग-परिणतिरूप परिणमित स्वसंवेदन ज्ञान, वह मोक्ष का कारण है।

शुद्ध परिणमन, वह मोक्षमार्ग है।

शुद्धपरिणमन उसे ही होता है कि जिसे शुद्धस्वरूप का अनुभव अवश्य हो। शुद्धस्वरूप के अनुभव बिना किंचित् भी शुद्धपरिणमन नहीं होता और शुद्धपरिणमन के बिना चौथा गुणस्थान भी नहीं होता। चौथे गुणस्थान से ही शुद्धस्वरूप का अनुभव है, शुद्धपरिणमन है, मोक्षमार्ग है; उसे अन्तरात्मा कहा है। चौथे गुणस्थान में

www.vitragvani.com

शुद्धस्वरूप का अनुभव होने से जो इनकार करता है उसे अनुभवदशा की या चौथे गुणस्थान की खबर नहीं है, उसे मोक्षमार्ग की खबर नहीं है।

भाई! शुद्धपरिणमन के बिना राग और ज्ञान की भिन्नता को जाना नहीं जा सकता। राग और ज्ञान की भिन्नता को यथार्थ जानने से शुद्धपरिणमन हुए बिना नहीं रहता। राग और ज्ञान तो वास्तव में तभी भिन्न जाना कि जब राग से भिन्न परिणमे और ज्ञानस्वभाव की तरफ झुके; इस प्रकार भेदज्ञान होते ही शुद्धतारूप परिणमन होता ही है। ऐसा परिणमन हुआ, तब ही मोक्षमार्ग शुरु हुआ।

कहाँ ज्ञान और कहाँ राग? कहाँ परम अतीन्द्रियसुख और कहाँ आकुलता? दोनों को मेल नहीं; अन्तर की शान्ति के प्रवाह में राग की मिलावट नहीं। अनुभव के अमृत में आकुलता का जहर नहीं।

अतीन्द्रियसुख कहो या आत्मा का स्वभाव कहो, उसका जिसे प्रेम जगा, वह सुख ही जिसे उपादेय लगा, उस जीव को जगत के दूसरे कोई बाह्य विषय या पुण्य-पाप के भाव रुचिकर नहीं लगते; उन्हें वह उपादेय नहीं समझता। वीतरागी मोक्षसुख का अभिलाषी, राग का सेवन कैसे करेगा? वह तो परभावों से रहित ऐसे अपने शुद्धस्वरूप को ही सेवन करता है—ऐसा सेवन, वही सिद्धान्त का सच्चा सेवन है।

★ मैं तो एक शुद्ध चिन्मात्र भाव ही हूँ, अन्य कोई भाव मेरे नहीं—ऐसा शुद्धात्मा का सेवन, अर्थात् अनुभवन ही सिद्धान्त का सेवन है।

www.vitragvani.com

★ राग और पुण्य मेरे, उनसे मुझे सुख मिलेगा—ऐसा जो राग का सेवन है, वह सिद्धान्त का अनादर है।

सिद्धान्त ने आत्मा का परमार्थस्वभाव दिखलाया है; उस स्वभाव का सेवन वह स्वसन्मुख पर्याय है, वही धर्मात्मा का आचरण है... उसमें ही परम अतीन्द्रियसुख का वेदन है।

जीव ने अनादि से विकारी परभावों का ही सेवन किया है, उसे ही अपनेरूप अनुभव किया है; उसमें एक क्षण भी यदि भंग करे तो स्वभावसन्मुखता हो जाये। जैसे अज्ञान से निरन्तर राग को अनुभव किया, वैसे अब 'रागादि मैं नहीं, मैं तो शुद्ध चैतन्यभाव ही हूँ'—ऐसा निरन्तर शुद्ध आत्मा का सेवन करो, उसे ही अपनेरूप अनुभव में लो — ऐसा अनुभव ही मोक्ष का कारण है, वही मोक्षार्थी जीव को करने का कार्य है; इसके अतिरिक्त पुण्य या पुण्य के फलरूप भोग, संसार, या शरीर—उनकी अभिलाषा मोक्षार्थी धर्मात्मा को नहीं है। स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ऐसा जीवद्रव्य मैं हूँ, शुद्धज्ञान प्रकाशमय मैं हूँ, अतीन्द्रियसुख, वह मैं हूँ - ऐसा श्रद्धा, ज्ञान अनुभव धर्मी करता है। धर्मी के ऐसे कार्य के साथ रागादि अशुद्धभाव अनमेल है, शुद्धस्वरूप को रागादि के साथ मेल नहीं-मिलन नहीं-एकता नहीं, परन्तु भिन्नता है। जितने रागादि भाव हैं, वे सभी शुद्ध चैतन्य के अनुभव से पर हैं; अपने स्वरूपरूप नहीं अनुभव में आते, इसलिए हे मोक्षार्थी जीवों! तुम प्रज्ञा द्वारा शुद्धस्वरूप का अनुभव करो।

☆ ☆ ☆

भगवती चेतना कहो या प्रज्ञाछैनी कहो, उसके द्वारा बन्धन से भिन्न शुद्ध आत्मा अनुभव में आता है। शुद्ध आत्मा चेतनामात्र वस्तु है, उसमें राग-द्वेष मोहादि अशुद्धभाव एकमेक नहीं, परन्तु दोनों

www.vitragvani.com

के बीच सन्धि है-साँध है, लक्षणभेद है। एक क्षेत्र में होने पर भी, दोनों एक स्वभाव नहीं हैं, दोनों के स्वभाव के बीच महान अन्तर है। वह अन्तर लक्ष्य में लेकर प्रज्ञाछैनी ऐसी पड़ती है कि अशुद्धता को एक ओर करके, शुद्ध चेतना वस्तु में स्वयं एकाग्र होता है — इसका नाम भेदज्ञान और यह मोक्षमार्ग।

बन्धन का स्वरूप, बन्धन से छूटने का उपाय — इन सबका मात्र विचार किया करे-विकल्प किया करे, इससे कहीं बन्धन नहीं छूटता। बन्ध से भिन्न शुद्धात्मा को जानकर, उसमें ज्ञान को एकाग्र करने से बन्धभाव छूट जाते हैं। इसके लिए उपयोग में सावधानी चाहिए। **रभसात्** अर्थात् शीघ्रता से प्रज्ञाछैनी पड़ती है- ऐसा कहकर पुरुषार्थ की तीव्रता बतलायी है। ऐसा भेदज्ञान करे, उस जीव को निपुण कहा है। बाकी बाहर के जानपने में निपुणता बतावे और अन्दर में राग से भिन्न शुद्धात्मा का अनुभव करना यदि न आवे तो उसे निपुण नहीं कहते, वह ठोठ है; आत्मा को बन्धन से छुड़ाने की विद्या उसे नहीं आती है।

भाई! आत्मा का शुद्धस्वभाव और अशुद्धतारूप बन्ध, ये दोनों एकमेक नहीं होते परन्तु बीच में लक्षणभेदरूप सन्धि है। अर्थात् दोनों को भिन्न अनुभव किया जा सकता है, सूक्ष्म प्रज्ञाछैनी द्वारा उन्हें पृथक् किया जा सकता है। आत्मा और बन्ध, दोनों ऐसे एकमेक नहीं हो गये हैं कि बीच में प्रज्ञाछैनी प्रवेश न कर सके; दोनों के बीच का भेद, ज्ञान द्वारा जाना जा सकता है। भेदज्ञान द्वारा दोनों को भेदा जा सकता है।

जितने क्षेत्र में चैतन्यवस्तु है, उतने ही क्षेत्र में रागादि बन्धभाव

www.vitragvani.com

हैं, तथापि दोनों के बीच भावभेदरूप (लक्षणभेदरूप) बड़ी दरार है। इस राग का स्वाद आकुलतारूप-दु:खरूप है और ज्ञान का स्वाद तो शान्त—सुखरूप है। ऐसे विवेक द्वारा दोनों के स्वाद की भिन्नता ज्ञात होती है। तीक्ष्ण प्रज्ञा के द्वारा उन दोनों को अत्यन्त भिन्न जानकर, वह प्रज्ञा शुद्धस्वरूप में प्रवेश कर उसे अनुभव में लेती है और रागादि को भिन्न कर डालती है।

तीक्ष्ण प्रज्ञा-तीक्ष्ण ज्ञान अर्थात् राग से घिराये नहीं ऐसी चेतना; वह अन्तर के चैतन्यस्वभाव में प्रवेश कर जाती है; अत्यन्त सावधानी द्वारा-उपयोग की जागृति द्वारा अन्दर की सूक्ष्म सन्धि को भेदकर, एक ओर ज्ञानस्वरूप आत्मा और दूसरी ओर अज्ञानरूप बन्धभाव, इन्हें सर्वथा भिन्न कर डालती है। बन्धभाव के किसी अंश को ज्ञान में रहने नहीं देती और ज्ञान के किसी अंश को बन्धभाव में मिलती नहीं - ऐसी भगवती ज्ञानचेतना, वह मोक्ष का साधन है।

यद्यपि रागादि अशुद्धभाव जीव की पर्याय में परिणमते हैं—जहाँ जीव है, वहाँ ही रागादि हैं; इसलिए उनसे भिन्न ऐसे शुद्धजीव का अनुभव सामान्य जीवों को कठिन है-बहुत सूक्ष्म है, तथापि निपुण पुरुष अन्तर की सूक्ष्म ज्ञानचेतना द्वारा स्वभाव और विभाव के बीच का भेद जानकर, उनकी भिन्नता का अनुभव करते हैं क्योंकि दोनों के बीच लक्षणभेद की दरार है। स्थूल ज्ञान से अज्ञानी को वह दरार दिखायी नहीं देती परन्तु ज्ञान की अन्तर एकाग्रता द्वारा उन दोनों की सन्धि जानकर, ज्ञान अपने स्वभाव में एकाग्र होता है। एकाग्र होते ही दोनों स्पष्ट भिन्न पृथक् अनुभव में आते हैं; ज्ञान का अनुभव हुआ, उस अनुभव में राग की सर्वथा नास्ति है। प्रथम ऐसी भिन्नता अनुभव में आने पर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान

www.vitragvani.com

होता है; फिर सकल रागादि का तथा कर्म का क्षय होने से बन्ध को सर्वथा छेदकर साक्षात् मोक्षदशा प्रगट होती है। इस प्रकार प्रज्ञाछैनी द्वारा बन्धन को छेदकर आत्मा मुक्त होता है; इसलिए प्रज्ञारूप ज्ञानचेतना, वह मोक्ष का पंथ है।

अन्तर में ज्ञान और राग के बीच की साँध पकड़ने के लिये उपयोग में बहुत सूक्ष्मता चाहिए। इन्द्रियाँ और मन दोनों से छूटकर अतीन्द्रिय उपयोग द्वारा राग से भिन्न आत्मा अनुभव में आता है; उसमें अन्तर्मुख उपयोग का बहुत प्रयत्न है। देह-मन-वाणी तथा जड़कर्म, वे तो जीव से एकक्षेत्र में होने पर भी भिन्न प्रदेशवाले हैं, रूपी हैं, जड़ हैं, वे नये आते हैं और जाते हैं—ऐसी प्रतीति विचार द्वारा उत्पन्न होती है, परन्तु अन्दर में जीव की पर्याय के साथ एक प्रदेश में रहे हुए जो रागादिभाव, उनसे भिन्न शुद्ध जीव का अनुभव कठिन है; कठिन होने पर भी सूक्ष्म प्रज्ञा द्वारा उनके बीच के स्वभावभेद को जानकर भिन्नता का अनुभव हो सकता है। कठिन है परन्तु अशक्य नहीं, हो सके वैसा है और ऐसी भिन्नता का अनुभव करानेवाली भगवतीप्रज्ञा, वही मोक्षसाधन है। अनन्त जीव ऐसा अनुभव करके मोक्ष को प्राप्त हुए हैं।

प्रज्ञाछैनी द्वारा विचार करने से अन्तर में ऐसी प्रतीति होती है कि राग भिन्न और मैं भिन्न; रागरहित का आत्मलाभ सम्भव है; राग के अभाव में आत्मा का अभाव नहीं हो जाता। राग के अभाव में भी आत्मा अपने चैतन्यस्वरूप से जीता है; इसलिए चेतनास्वरूप ही जीव है, रागस्वरूप नहीं – ऐसा अन्दर का भेदज्ञान अत्यन्त कठिन होने पर भी, अन्दर के तीव्र प्रयत्न द्वारा हो सकता है। राग के काल में ही उससे भिन्न शुद्ध जीव का अनुभव, ज्ञानचेतना द्वारा

www.vitragvani.com

अवश्य होता है। ज्ञानचेतना अतिसूक्ष्म है, चक्रवर्ती की तलवार की तीक्ष्ण धार की तरह एक झटके में वह प्रज्ञाछैनी, ज्ञान और राग के दो टुकड़े कर डालती है। ऐसा भेदज्ञान करने में प्रज्ञाछैनी को कितनी देर लगेगी? तो कहते हैं कि तत्क्षण एक समय में वह आत्मा और बन्ध को भिन्न कर डालती है। चेतना जहाँ अन्तर में एकाग्र हुई कि उसी समय में वह बन्धभावों से भिन्न शुद्ध आत्मा को अनुभव करती है – ऐसा भेदज्ञान निपुण पुरुष करते हैं; निपुण पुरुष, अर्थात् आत्मानुभव में प्रवीण जीव; — फिर वह पुरुष हो या स्त्री हो, स्वर्ग का देव हो या नरक का नारकी हो; **आत्मा का अनुभव करने में प्रवीण हैं, वे जीव निपुण हैं, मोक्ष को साधने की कला उन्हें आती है... और संसार का किनारा नजदीक आ गया है। ऐसे भेदज्ञाननिपुण जीव, प्रज्ञाछैनी द्वारा बन्ध से भिन्न शुद्ध आत्मा को साधते हैं। ऐसा भेदज्ञान, जीव को आनन्द उपजाता है। भेदज्ञान होते ही आनन्दरूप शुद्ध आत्मा अनुभव में आता है और बन्धभाव, शुद्धस्वरूप से बाहर भिन्न रह जाते हैं, यह मोक्षमार्ग है।**

वाह! सन्त ऐसा भेदज्ञान कराकर कहते हैं कि भाई! तू अन्तर में ऐसा भेदज्ञान कर। यह भेदज्ञान तुझे महा आनन्द उत्पन्न करेगा और मोक्ष प्राप्त करायेगा। भेदज्ञान के लिये यह अवसर है। अनादि के बन्धन से छूटकर सुखी होने के लिये यह समय है, तू इस अवसर को चूक मत जाना।

☆ ☆ ☆

(गुरुदेव परम वात्सल्य भरी प्रेरणा से कहते हैं कि —)

हे भाई! अभी आत्मज्ञान के लिये यह अवसर है... तू यह बात

www.vitragvani.com

लक्ष्य में तो ले। मुश्किल से ऐसा अवसर मिला है... उसमें करना तो एक यही है। अन्दर में जरा धीर होकर, बाहर के कार्यों का रस छोड़कर विचार कर तो तुझे ज्ञात होगा कि आत्मा का स्वभाव और राग, दोनों एक होकर रहनेयोग्य नहीं परन्तु भिन्न पड़ने योग्य है। दोनों का स्वभाव भिन्न है; इसलिए भिन्न पड़ जाते हैं। भाई! समय-समय करते हुए काल तो चला ही जा रहा है; उसमें यदि तू तेरे स्वभाव सन्मुख न हुआ तो तूने क्या किया? जो करनेयोग्य कार्य है, वह तो यह ही है। चाहे जितने प्रयत्न द्वारा भी विकार से भिन्न चेतना का अनुभव करना, वही करना है।

तेरी चेतना, राग को चेतने में (अनुभवने में) रुकती है, उसके बदले चेतना अन्तर में ढलकर शुद्ध आत्मा को चेते-अनुभव करे कि तुरन्त ही आत्मा और बन्ध की भिन्नता का अनुभव होता है— एक समय में ही ऐसा उपयोग पलटा खा जाता है।

दुनिया के जीव, दुनिया के बाह्य कार्यों में अपनी-अपनी चतुराई और प्रवीणता दिखाते हैं... तो हे भाई! तू तेरे आत्मा के अनुभव में प्रवीण हो... उसमें उद्यमी हो, तेरी चेतना को राग से भिन्न करके शुद्धस्वरूप में प्रविष्ट कर... उस क्षण 'ही' तुझे परम आनन्द होगा, भेदज्ञान में निपुण जीव आनन्दसहित अपने शुद्ध आत्मा को अनुभवते हैं- ऐसा अनुभव, वह मोक्षमार्ग है, वह करने जैसा कार्य है।

अहा! सावधान होकर आत्मा के विचार का उद्यम करे, उसमें तो नींद उड़ जाये वैसा है। जिसे सम्यग्दर्शन प्रगट करना है, वह तो आत्मा और बन्ध की भिन्नता के विचार में जागृत है, उत्साही है,

www.vitragvani.com

उसमें प्रमादी नहीं होते। मुझे मेरा हित साधना है, मुझे मेरे आत्मा को भवबन्धन से छुड़ाना है—ऐसे अत्यन्त सावधान होकर, महान उद्यमपूर्वक, हे जीव! तेरे आत्मा को बन्धन से भिन्न अनुभव में ले... अनादि की नींद उड़ाकर जागृत हो।

आत्मा के अनुभव के लिये सावधान होना... शूरवीर होना... जगत् की प्रतिकूलता देखकर कायर नहीं होना... प्रतिकूलता के सन्मुख मत देख; शुद्ध आत्मा के आनन्द के समक्ष देखना। शूरवीर होकर-उद्यमी होकर आनन्द का अनुभव करना। 'हरि का मारग है शूर का...' वह प्रतिकूलता में या पुण्य की मिठास में कहीं नहीं अटकता, उसे एक अपने आत्मार्थ का ही कार्य है, वह भेदज्ञान द्वारा आत्मा को बन्धन से सर्वथा प्रकार से भिन्न अनुभव करता है। ऐसा अनुभव करने का यह अवसर है-भाई! उसमें तेरी चेतना को अन्तर में एकाग्र करके त्रिकाली चैतन्यप्रवाहरूप आत्मा में मग्न कर... और रागादि समस्त बन्धभावों को चेतन से भिन्न अज्ञानरूप जान। ऐसे सर्व प्रकार से भेदज्ञान करके तेरे एकरूप शुद्ध आत्मा को साध! मोक्ष को साधने का यह अवसर है।

अहो, वीतराग के मार्ग... जगत् से अलग हैं। जगत् का भाग्य है कि सन्तों ने ऐसा मार्ग प्रसिद्ध किया है। ऐसा मार्ग पाकर, हे जीव! भेदज्ञान द्वारा शुद्ध आत्मा को अनुभव में लेकर तू मोक्षपंथ में आ। ●

www.vitragvani.com

स्वानुभव के चिह्नरूप ज्ञानचेतना ज्ञानी के हृदय की बात

*संवत् 1992 अर्थात् *आज से लगभग 35 वर्ष पहले की बात है। उस समय गुरुदेव के समक्ष स्वानुभव की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण चर्चा हुई, कितनी ही बार प्रसन्नता से और बहुत गम्भीर भाव से उस चर्चा का प्रसंग याद करके जब गुरुदेव सुनाते हैं, तब जिज्ञासु के रोम-रोम पुलकित होकर ज्ञानी के स्वानुभव के प्रति उल्लसित हो जाते हैं।*

उस चर्चा में गुरुदेव ने पूछा था कि ज्ञानचेतना का फल क्या? ज्ञानचेतना खिलती है, इसलिए सब शास्त्रों के अर्थ का हल कर देती है न?

उत्तर : ज्ञानचेतना तो अन्तर में अपने आत्मा को चेतनेवाली है। ज्ञानचेतना के फल में शास्त्र का हल होने लगे-ऐसा कोई फल नहीं है परन्तु आत्मा के अनुभव का हल प्राप्त हो जाये—ऐसी ज्ञानचेतना है। ज्ञानचेतना का फल तो यह है कि अपने आत्मा को चेत ले, शास्त्र पठन के आधार से ज्ञानचेतना का माप नहीं है।

ज्ञानचेतना, अर्थात् शुद्धात्मा को अनुभव करनेवाली चेतना; वह चेतना, मोक्षमार्ग है। उस ज्ञानचेतना का सम्बन्ध शास्त्र-पठन के साथ नहीं है; ज्ञानचेतना तो अन्तर्मुख होकर आत्मा के साक्षात्कार का कार्य करती है। कम-अधिक जानपना हो, उसके साथ सम्बन्ध नहीं है परन्तु ज्ञानानन्दस्वभाव के सन्मुख होने से ज्ञानचेतना प्रगट

* विक्रम संवत् २०२७ का प्रवचन है; इस दृष्टि से ३५ वर्ष पूर्व की बात है—ऐसा समझना चाहिए।

www.vitragvani.com

होती है, उस ज्ञानचेतना में आत्मा निजानन्द को अनुभव करता हुआ अत्यन्त शुद्धरूप से प्रकाशित होता है। ऐसी ज्ञानचेतना चौथे गुणस्थान से शुरु होती है। ज्ञानी ऐसी ज्ञानचेतना द्वारा केवलज्ञान को बुलाता है।

(इसमें ज्ञानी का हृदय भरा है। इसके भाव स्वानुभव के लिये बहुत गहराई से मननीय है। गुरुदेव इस चर्चा की बहुत महिमा करते हैं।)

समयसार कलश ३२३-३२४ इत्यादि के प्रवचनों में से इस सम्बन्धी स्पष्टीकरण दिया जाता है।

★ मैं ज्ञानस्वभाव हूँ – ऐसा जो वास्तविक निर्णय है, उसकी सन्धि ज्ञानस्वभाव के साथ है; विकल्प के साथ उसकी सन्धि नहीं है।

★ ज्ञान और विकल्प दोनों निर्णय काल में होने पर भी, उसमें से ज्ञानस्वभाव के साथ सन्धि का काम ज्ञान ने किया है; विकल्प ने नहीं।

★ ज्ञानस्वभाव के साथ सन्धि करके, उसके लक्ष्य से प्रारम्भ ज्ञानधारा ज्ञान के अनुभव तक पहुँच जायेगी।

www.vitragvani.com

धर्मात्मा की ज्ञानचेतना

इसमें ज्ञानी के हृदय का रहस्य भरा है। ज्ञानी के अन्तर के आत्मभाव समझने के लिये, उनकी परिणति पहचानने के लिये, और अपने में वैसे भाव प्रगट करने के लिये 'धर्मात्मा की ज्ञानचेतना' का मनन आत्मार्थी जीवों को बहुत उपयोगी होगा।

'ज्ञानचेतना', वह धर्मात्मा का चिह्न है। ज्ञानचेतना द्वारा धर्मी जीव अपने को निरन्तर शुद्धस्वरूप अनुभव करता है। ज्ञानचेतना अपने स्वभाव को स्पर्श करनेवाली है। अमुक शास्त्र आवे तो ज्ञानचेतना कहलाये—ऐसा नहीं है परन्तु अपने शुद्धस्वभाव को स्पर्श करे-अनुभव करे, उसका नाम ज्ञानचेतना है। ज्ञानचेतना का काम अन्दर में समाहित होता है। अन्तर में ज्ञानस्वभाव को स्पर्श किये बिना शास्त्रादि का चाहे जितना जानपना हो, तथापि उसे ज्ञानचेतना नहीं कहते, क्योंकि वह तो राग को स्पर्श करता है - राग को अनुभव करता है।

धर्म की शुरुआत या सुख की शुरुआत 'ज्ञानचेतना' से होती है। ज्ञानचेतना, अर्थात् शुद्ध आत्मा को अनुभव करनेवाली चेतना; उसमें रत्नत्रय समाहित है। उस ज्ञानचेतना का सम्बन्ध शास्त्र के पठन के साथ नहीं; ज्ञानचेतना तो अन्तर्मुख होकर आत्मा के साक्षात्कार का कार्य करती है। ज्ञानचेतना के बल से ज्ञानी अल्प काल में ही केवलज्ञान को बुला लेता है।

ज्ञानचेतना का कार्य विकल्प या वाणी नहीं है। कोई पूछे कि ज्ञान चेतना प्रगटे, इसीलिए समस्त शास्त्रों के अर्थ हल करना आ

www.vitragvani.com

जाये और दूसरों को उपदेश देकर समझाना आ जाये-यह ज्ञानचेतना का फल है ?

—तो ज्ञानी कहते हैं कि नहीं; ज्ञानचेतना का फल तो यह है कि अपने आत्मा को चेत ले; आत्मा को स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कर ले—ऐसा उस ज्ञानचेतना का फल है। ज्ञानचेतना के फल में शास्त्र के अर्थ हल करना आवे—ऐसा कोई उसका फल नहीं है परन्तु आत्मा के अनुभव का हल पा जाये - ऐसी ज्ञानचेतना है। वह ज्ञानचेतना तो अन्तर में अपने आनन्दस्वरूप आत्मा को चेतती है (यह न्याय विशेष समझनेयोग्य है)।

ज्ञानचेतना का कार्य अन्दर में आता है, बाहर में नहीं। कोई जीव शास्त्रों के अर्थ को शीघ्रता से बोलता हो, इसीलिए उसे ज्ञानचेतना उघड़ गयी है—ऐसा उसका माप नहीं है, क्योंकि किसी जीव को भाषा का योग न हो और कदाचित् वैसा पर की ओर का विशेष उघाड़ भी न हो, तथापि अन्दर ज्ञानचेतना होती है और कदाचित् किसी को वैसा विशेष उघाड़ हो तो भी वह कोई ज्ञानचेतना की निशानी नहीं है; ज्ञानचेतना का कार्य तो अन्तर की अनुभूति में है। जिसने ज्ञान को अन्दर में झुकाकर राग से भिन्न स्वरूप को अनुभव में ले लिया है, उस जीव को अपूर्व ज्ञानचेतना अन्दर में खिल गयी है। जीवों को उसकी पहिचान होना कठिन है।

भाई! तुझे जन्म-मरण के दुःख मिटाना हो और आत्मा का सुख चाहिए हो तो ध्यान के विषयरूप ऐसे तेरे शुद्धस्वभाव को अनुभव में ले। उस अनुभव में आनन्दसहित ज्ञानचेतना खिल उठेगी; बाहर के पठन द्वारा ज्ञानचेतना नहीं खिलती। अन्दर ज्ञान

www.vitragvani.com

स्वभाव को चेते / अनुभव करे, उसका नाम ज्ञानचेतना है। ऐसी ज्ञानचेतना, वह सम्यग्दृष्टि का धर्म है। अज्ञानी अपने को रागरूप ही चेतता है – अनुभव करता है, वह अज्ञानचेतना है, वह कर्मचेतना है। जो रागादि अशुद्धता को अनुभव करता है, उसे राग-द्वेष-मोहरहित जो शुद्धज्ञान, उसके स्वाद का पता नहीं है; धर्मात्मा की ज्ञानचेतना राग से भिन्न अन्तर्मुख है; पर्याय ने शुद्धस्वभाव को स्पर्श कर उसका अनुभव किया है; वह चेतना, राग को स्पर्श नहीं करती, राग से तो पृथक् ही रहती है। वह ज्ञानचेतना आत्मिकरस से भरपूर है, अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर है। धर्मी को आत्मा के आनन्द से भरपूर चैतन्य कल्लोल उल्लसित होती है।

अन्तर में ध्येय करके अपने परिपूर्ण आत्मा को जाना, वहाँ सम्पूर्ण जगत को भी जान ले, ऐसे ज्ञान की सामर्थ्य प्रतीति में आयी। जीव अखण्ड ज्ञानस्वभावी है, तो ज्ञाता की सामर्थ्य अधूरी कैसे होगी ? सम्पूर्ण सर्वज्ञ स्वभाव धर्मी ने अपने में देखा, वहाँ वह जगत का ज्ञाता हुआ।

जो ज्ञानस्वरूप आत्मा को चेते, वह ज्ञानचेतना; राग द्वारा ऐसी ज्ञानचेतना अनुभव में नहीं आती; राग का तो ऐसी ज्ञानचेतना में अभाव है, ज्ञानचेतना तो चैतन्य प्रकाश से भरपूर है, आनन्द से भरपूर है। ज्ञानचेतना द्वारा जो शुद्ध आत्मा को अनुभव करता है, उसे शुद्धता प्रगट होती है और अज्ञानचेतनारूप अशुद्धता का जो अनुभव करता है, उसे अशुद्धता ही होती है। इस प्रकार ज्ञानचेतना, वह मोक्षमार्ग है और अज्ञानचेतना, वह संसारमार्ग है।

चौथे गुणस्थान से ही ज्ञानचेतनारूप मोक्षमार्ग प्रगट हुआ,

www.vitragvani.com

ज्ञानचेतना के बिना मोक्षमार्ग नहीं होता। आनन्दमय ज्ञानचेतना को परिणमाते हुए ज्ञानी, चैतन्य के प्रशमरस को पीते हैं। ज्ञानचेतना आनन्दसहित होती है। ज्ञानचेतना खिले और आनन्द का अनुभव न हो—ऐसा नहीं होता। राग से भिन्न पड़कर शुद्धस्वभाव में एक हुई, ऐसी ज्ञानचेतना शुद्धपरिणतिरूप वीतराग वैभव से सहित है।

अरे! मनुष्यपना प्राप्त करके यह ज्ञानचेतना प्रगट करने का अवसर है। इस वस्तु को ख्याल में तो ले। सच्चा लक्ष्य करके उसका पक्ष करने से, उसके अभ्यास में दक्ष होकर इसका अनुभव होगा, परन्तु जिसे लक्ष्य और पक्ष ही मिथ्या हैं, वह शुद्धता का अनुभव कहाँ से करेगा? अज्ञानी राग का पक्ष करता है—राग से कुछ लाभ होगा—ऐसा मानकर उसका पक्ष करता है; इसलिए वह अपने को रागादि अशुद्धतारूप ही अनुभव करता है। धर्मी अपने शुद्धस्वभाव का अनुभव करता है; ऐसा शुद्ध अनुभव मोक्षमार्ग है। जो ऐसे शुद्ध अनुभवरूप ज्ञानचेतना के बिना अपने को धर्मी मानता है, उसे धर्म के सच्चे स्वरूप का पता भी नहीं है, धर्म को या धर्मी को वह पहचानता ही नहीं है।

शुद्ध चेतना वस्तु, रागरहित है; तो उसका अनुभव भी रागरहित ही होता है। वस्तु, रागरूप नहीं; वैसे अनुभवरूप पर्याय भी रागरूप नहीं है। साधकपने की भूमिका में राग होता है परन्तु उस समय भी धर्मी की चेतना तो राग से भिन्न ही परिणमती है। चेतना को और राग को कुछ लेना-देना नहीं है। चेतना तो स्वभाव को स्पर्श करनेवाली है, वह परभाव को स्पर्श नहीं करती। चौथे गुणस्थान की ज्ञानचेतना या केवली भगवान की ज्ञानचेतना, ये दोनों ज्ञानचेतना, रागरहित ही है। आत्मा के वैभव में एकाग्र हुई आनन्दमय ज्ञानचेतना

www.vitragvani.com

तीन लोक के विभावों से मुक्त है। राग अंश, राग में है; चेतन अंश, चेतन में है; दोनों अत्यन्त भिन्न अपने-अपने स्वरूप में वर्तते हैं। चेतन में राग का अभाव ही है।

ज्ञानचेतना वाणी को या राग को नहीं प्रकाशती; ज्ञानचेतना तो शुद्ध चैतन्य को प्रकाशती है। ऐसी ज्ञानचेतना ही शुद्धता का कारण होती है; राग अंश शुद्धता का कारण नहीं होता, वह तो स्वयं अशुद्ध है। अशुद्ध कारण द्वारा शुद्ध कार्य कैसे होगा? होगा ही नहीं; कारण हमेशा कार्य की जाति का होता है, विरुद्ध नहीं होता। स्वरूप को चेतनेवाली चेतना को ही वास्तव में जीव कहा है। उस चेतना में जीव अपने वास्तविक स्वरूप से प्रकाशित होता है; राग में शुद्ध जीव प्रकाशित नहीं होता। शुद्ध चेतना में अपार ताकत है, उसमें अकेली वीतरागता भरी है, उसमें आनन्द भरा है; आनन्द को अनुभव करती हुई मोक्ष की ओर दौड़ती है।

ज्ञानचेतना द्वारा जीव क्या करता है? – आनन्द का वेदन।

अज्ञानचेतना द्वारा क्या करता है? – राग-द्वेष दुःख का वेदन।

परभाव के एक अंश को भी ज्ञान चेतना वेदती नहीं है।

अहा! ज्ञानचेतना की महिमा की जगत को खबर नहीं है। जिसे ज्ञानचेतना हुई, वह आत्मा सर्व परभावों से भिन्न पड़ गया, वह निजानन्द के समुद्र के अनुभव में लीन हुआ। विकल्प से पार ज्ञानचेतना अन्दर स्वभाव में घुस गयी है; रागादि परभाव तो अनुभव से बाहर रह गये हैं। जिसे ऐसी अनुभव दशा प्रगट हुई, उसे भगवती ज्ञानचेतना वर्तती है।

जयवन्त वर्तो ज्ञान चेतनावन्त ज्ञानी भगवन्त.... ●

www.vitragvani.com

वास्तविक ज्ञायक वीर

सन्त श्रुतज्ञान की पुकार द्वारा केवलज्ञान को बुलाते हैं।

चैतन्य साधना के पन्थ में आरूढ़ साधक को जगत की कोई प्रतिकूलता विचलित नहीं कर सकती अथवा उलझा नहीं सकती। निज आत्मा को दृष्टि में लेकर, उसमें लीनता द्वारा जिसने शान्तदशा प्रगट की है, उसकी शान्ति को जगत की महा संवर्तक-वायु भी डिगा नहीं सकती। अभी पंचम काल में प्रतिकूलता के बहुत प्रसंग होने से उनके समाधान के लिये रुकना पड़ता है, इसलिए अभी आत्मा की साधना नहीं हो सकती - ऐसा कोई कहे, तो कहते हैं कि अरे भाई! ऐसा नहीं है; अभी भी प्रतिकूलता के ढेर के बीच में भी आत्मा की पवित्र आराधनावाले और जातिस्मरण-ज्ञानवाले आत्मा यहाँ नजरों से दिखते हैं; जगत की कोई प्रतिकूलता उन्हें आराधना में बाधक नहीं है। जो अन्तर्मुख होकर चैतन्य गुफा में प्रवेश कर गये हैं, उन्हें चैतन्य गुफा में फिर प्रतिकूलता कैसी? कोई प्रतिकूलता का भार नहीं कि चैतन्य में प्रवेश कर सके। चैतन्य सिंह की शूरवीरता के समक्ष प्रतिकूलता तो नहीं टिकती; परभाव भी नहीं टिक सकते

'बहिरभाव स्पर्शे नहीं आतम को,
वास्तविक वह ज्ञायक वीर गिनाये जो।'

चैतन्य सिंह ज्ञायक वीर अपने पराक्रम की वीरता से जहाँ जागृत हुआ, वहाँ उसकी पर्याय के विकास को कोई रोक नहीं सकता। अहो! सन्तों ने आत्मशक्ति के ऐसे रहस्य खोलकर गजब

www.vitragvani.com

काम किया है... और मुमुक्षु जीवों पर महान उपकार किया है। उन्होंने तो अन्तर में श्रुतज्ञान की पुकार करके केवलज्ञान को बुलाया है; श्रुतज्ञान में केवलज्ञान का निर्णय आ जाता है। केवलज्ञान का निर्णय न हो, तब तो श्रुतज्ञान ही सच्चा नहीं है। जहाँ अपने सर्वज्ञस्वभाव में स्वसन्मुख होता हुआ श्रुतज्ञान जागृत हुआ, वहाँ सर्वज्ञपद प्रगट हुए बिना नहीं रहता। ऐसे स्वभाव को जानने से जीव को सम्यग्दर्शन होता है और स्वसन्मुख होकर वह शीघ्र शीघ्र मोक्ष में जाता है। ●

★ ज्ञानस्वभाव के साथ सन्धि करने की विकल्प में ताकत नहीं है, ज्ञान में स्वभाव को 'टच' किया, तब सच्चा निर्णय हुआ।

★ ज्ञानस्वभाव के निर्णय में विकल्प से ज्ञान अधिक (भिन्न) हुआ है, ज्ञान और विकल्प के बीच बिजली पड़ चुकी है, दोनों के बीच दरार पड़ गयी है, वह दरार अब संधेगी नहीं।

★ ऐसे आत्मनिर्णय के बल से सम्यक्त्व प्राप्त होता है।

www.vitragvani.com

समयसार के श्रोता को.... आशीर्वाद

सोलहवीं बार प्रवचन के प्रारम्भ में समयसार की महिमा करते हुये गुरुदेव ने कहा था कि हे भव्य! तू अपूर्व भाव से समयसार सुनना। शुद्धात्मा का अनुभव करनेवाले सन्तों के हृदय में से निकला हुआ यह शास्त्र, शुद्धात्मा का अनुभव कराकर भव का नाश करानेवाला है... आत्मा के अशरीरीभाव को दर्शानेवाला यह शास्त्र है। हे श्रोता! तू सावधान होकर (अर्थात् कि भावश्रुत को अन्तर में एकाग्र करके) सुन... इससे तेरा मोह नष्ट हो जायेगा और तू परमात्मा हो जायेगा। इस शास्त्र की कथनी में से धर्मात्मा, शुद्धात्मा को प्राप्त कर लेता है। शुद्ध आत्मा का अनुभव करना, यह इस शास्त्र का तात्पर्य है। ऐसे शुद्धात्मा को ध्येयरूप स्थापित कर उसे नमस्काररूप मोक्ष के मंगल स्तम्भ रोपे हैं।

★ ★ ★

इस शास्त्र में दर्शाया हुआ जो शुद्ध ज्ञायकभाव, उसके घोलन द्वारा आत्मा की परिणति अत्यन्त शुद्ध होगी। बीच में विकल्प आवे, उसके ऊपर या वाणी के ऊपर लक्ष्य मत रखना, परन्तु उसके वाच्यरूप जो ज्ञायकभाव है, उस पर लक्ष्य रखना – उस ओर ज्ञान को एकाग्र करना। राग का उत्साह रखना नहीं, ज्ञायकस्वभाव का ही उत्साह रखना। ज्ञायकभाव के प्रेम से तुझे परम सुख होगा – ऐसे आशीर्वादपूर्वक समयसार सुनाते हैं। ●

www.vitragvani.com

तीन रत्नों की कीमत समझिये

संसार में अनन्तानन्त जीवों में से असंख्यात जीव ही मनुष्य होते हैं, अर्थात् त्रिराशी के हिसाब से गिनने पर अनन्त जीवों में से मात्र एक जीव मनुष्य होता है। ऐसा दुर्लभ मनुष्यपना है। दृष्टिगोचर क्षेत्र में रहे हुए करोड़ों-अरबों मनुष्यों में भी बहु भाग मनुष्य तो माँस, मछली, अण्डा, शराब और शहद जैसे अभक्ष्य सेवन के पाप समुद्र में ऐसे डूबे हुए हैं कि जिन्हें धर्म के श्रवण जितने विशुद्ध परिणाम ही नहीं हैं।

अब शेष रहे हुए थोड़े-बहुत मनुष्यों में से भी बहु भाग को तो कुदेव-कुगुरु-कुधर्म के सेवन का ऐसा भूत लगा है कि किसी भी प्रकार की विवेकबुद्धि के बिना पागल की तरह चाहे जिस क्रिया में धर्म मनवा रहे हैं। अरे रे! ये जीव मनुष्यपना तो पाये परन्तु इन्हें पंच परमेष्ठी भगवान का नाम भी सुनने को नहीं मिला, गृहीतमिथ्यात्व के भूत ने इन्हें भरमाया है। धन्य है जगत में पंच परमेष्ठी भगवन्त, कि जिनकी भक्तिरूप मन्त्र के प्रभाव से गृहीतमिथ्यात्व का भूत आत्मा के समीप भी नहीं आ सकता।

प्रिय साधर्मीबन्धुओं! जगत में अनेकविध कुधर्म तो सदा ही रहनेवाले ही हैं। क्योंकि नरकादि गति भी सदा ही भरी ही रहनेवाली है। अपने को ऐसे कुधर्मों के साथ कोई वास्ता नहीं परन्तु कुधर्म के समुद्र के बीच भी अपने को भवसमुद्र से तिराकर आत्मा का आनन्द देनेवाले जो तीन रत्न मिले हैं, वे जगत में सर्वश्रेष्ठ हैं। अपने को प्राप्त इन वीतरागी रत्नों को हम पहचाने... जीव की तरह

इनका यत्न करें और इनके जैसा अपना जीवन बनावें... इसके लिये जरा भी प्रमादी न होवें और परम बहुमानपूर्वक इन सच्चे तीन रत्नों का सेवन करें... अपने वीतरागी अरहन्तदेव, अपने वीतरागी निर्ग्रन्थ गुरु और अपने वीतरागी शास्त्र इस जगत में सर्वश्रेष्ठ, सत्य और आत्महित के लिये रत्नत्रय देनेवाले हैं... उनका ही सेवन करो और इसके अतिरिक्त अन्य मार्ग की ओर भूलचूक से भी जरा भी झाँककर मत देखो।

जयवन्त वर्तो ये 'तीन रत्न'... कि जो तीन रत्न के दातार हैं। ●

वह उत्साहपूर्वक उसका सेवन करता है

जिस प्रकार थके हुए व्यक्ति को विश्राम मिलने पर अथवा वाहन आदि की सुविधा मिलने पर वह हर्षित होता है और रोग से पीड़ित मनुष्य को वैद्य मिलने पर वह उत्साहित होता है; इसी प्रकार भव-भ्रमण कर करके थके हुए और आत्मभ्रान्ति के रोग से पीड़ित जीव को थकान उतारनेवाली और रोग मिटानेवाली चैतन्यस्वरूप की बात कान में पड़ते ही, वह उत्साहपूर्वक उसका सेवन करता है। सच्चे सद्गुरु वैद्य ने जिस प्रकार कहा हो, उस प्रकार वह चैतन्य का सेवन करता है। सन्त के समीप दीन होकर भिखारी की तरह 'आत्मा' माँगता है कि प्रभु! मुझे आत्मा का स्वरूप समझाओ।

www.vitragvani.com

एक अद्भुत वैराग्य चर्चा

(आत्मार्थ को पुष्ट करके वैराग्य रस की धुन जगाये, ऐसी वार्ता।)

जिसने आत्मा के सहजसुख को अनुभव में लिया है, ऐसे वैराग्यवन्त धर्मात्मा जानते हैं कि सुख तो आत्मा के ध्रुव-चिदानन्दस्वभाव में है; बाहर के संयोग तो अध्रुव और अनित्य हैं, उनमें सुख कैसा? इस प्रकार धर्मी ने अपने स्वभाव का सुख देखा है; इसलिए बाहर में सर्वत्र से दृष्टि हट गयी है।

छोटा-सा पुण्यवन्त राजकुमार हो, बाग-बगीचा के बीच में महल में बैठा हो, बाहर में सभी तरह से सुखी हो... परन्तु अन्दर हृदय में विरक्त होने पर माता से कहता है कि हे माँ! मुझे इसमें कहीं चैन नहीं पड़ता... इसमें कहीं मेरा चित्त नहीं लगता। आत्मा के आनन्द में जहाँ हमारा चित्त लगा है, वहाँ से वह नहीं हटता और इसमें कहीं हमारा चित्त क्षणमात्र नहीं लगता।

माँ कहती है—बेटा! इसमें तुझे क्या कमी है? तुझे क्या दुःख है?

पुत्र कहता है—माँ! इन संयोगों में कहीं मुझे चैन नहीं पड़ता; मेरा चित्त तो मेरे स्वभाव के आनन्द में लगा है।

अरे, हम तो आत्मा! या हम तो दुःख?

—दुःखी, वह हम कैसे हों? हमारा आत्मा तो सुख का सागर है, उसमें यह दुःख क्या? यह संयोग क्या?

माता! आज्ञा दो, हम हमारे चैतन्य के आनन्द को साधेंगे। इन संयोगों से दूर-दूर अन्दर हमारी स्वभावगुफा में जाकर सिद्ध के

www.vitragvani.com

साथ गोष्ठी करेंगे और सिद्ध जैसे आनन्द को अनुभव करेंगे। हे जननी! इन संयोगों में हमें चैन नहीं पड़ता, हमारा चित्त तो आत्मा में लगा है। *(प्रवचनसार, गाथा २०१-२०२ में दीक्षा प्रसङ्ग में दीक्षार्थी जीव, शरीर की जननी इत्यादि को वैराग्य से सम्बोधन करता है। वह बात गुरुदेव ने यहाँ स्मरण की थी... मानों ऐसा कोई दीक्षा प्रसङ्ग नजर के सामने बन रहा हो - ऐसे भाव गुरुदेवश्री के श्रीमुख से निकलते थे।)*

—इस प्रकार संसार से विरक्त होकर जो राजकुमार दीक्षा ले और अन्दर लीन होकर आत्मा के आनन्द को अनुभव करे... वाह, धन्य वह दशा!

इसी वैराग्य के बारम्बार घोलनपूर्वक प्रवचन में भी गुरुदेव ने कहा—

धर्मी राजकुमार हो, विवाह भी हुआ हो, वह वैराग्य होने पर माता को कहता है कि हे माताजी! यह राजमहल और रानियाँ, ये बाग-बगीचे और खान-पान, इन संयोगों में मुझे कहीं चैन नहीं पड़ता, इनमें कहीं मुझे सुख भासित नहीं होता; माँ! इस संसार के दु:ख अब सहन नहीं होते। अब तो मैं मेरे आनन्द को साधने जाता हूँ-इसलिए तू मुझे आज्ञा दे! इस संसार से मेरा आत्मा त्रस्त हुआ है, फिर से अब मैं इस संसार में नहीं आऊँगा। अब तो आत्मा के पूर्णानन्द को साधकर सिद्धपद में जाऊँगा। माता! तू मेरी अन्तिम माता है, दूसरी माता अब मैं नहीं बनाऊँगा; दूसरी माता को फिर से नहीं रुलाऊँगा; इसलिए आनन्द से आज्ञा दे। मेरा मार्ग अफरगामी है। संसार की चार गति के दु:ख सुनकर उनसे मेरा आत्मा त्रस्त

www.vitragvani.com

हो गया है। अरे! जो दुःख सुने भी न जायें (सुनते हुए भी आँसू आवे) वे दुःख सहन कैसे किये जायें? इन दुःखों से अब बस होओ... बस होओ। आत्मा के आनन्द में हमारा चित्त लगा है, इसके अतिरिक्त अन्य कहीं अब हमारा चित्त नहीं लगता; बाहर के भाव अनन्त काल किये, अब हमारा परिणमन अन्दर ढलता है, जहाँ हमारा आनन्द भरा है, वहाँ हम जाते हैं। स्वानुभूति से हमारा जो आनन्द हमने जाना है, उस आनन्द को साधने के लिये जाते हैं।

स्वानुभूति बिना आत्मा को आनन्द नहीं होता। नवतत्त्वों की गूँच में से शुद्धनय द्वारा भूतार्थस्वभाव को पृथक् करके, जो शुद्धात्मा की अनुभूति की, उसमें कोई विकल्प या भेदरूप द्वैत दिखायी नहीं देता; एकरूप ऐसा भूतार्थ आत्मस्वभाव ही अनुभूति में प्रकाशित होता है–ऐसी अनुभूति के बिना आत्मा को आनन्द नहीं होता।

जब ऐसी अनुभूतिसहित राजकुमार, संसार से विरक्त होकर माता के समीप आज्ञा माँगे, तब माता भी धर्मी हो, वह कहती है कि भाई! तू सुख से जा और तेरे आत्मा को साध। जो तेरा मार्ग है, वही हमारा मार्ग है। हमें भी इसी स्वानुभूति के मार्ग में आना है।

अहा, वह दृश्य कैसा होगा! —कि जब छोटे से वैरागी राजकुमार आज्ञा माँगे और धर्मी माता इस प्रकार उन्हें आज्ञा देती हों!

यहाँ एक प्रसङ्ग को याद करके गुरुदेव ने कहा—

एक व्यक्ति को दीक्षा लेने की भावना जगी; इससे स्त्री तथा माता इत्यादि रोवे और आज्ञा न दे, तब दीक्षा की भावना से उस मनुष्य को बहुत रोना आया, उसकी माँ यह देख नहीं सकी और कहा—भाई! तू रो मत! मैं तुझे दीक्षा लेने की आज्ञा दूँगी।

www.vitragvani.com

ऐसे प्रसङ्ग को याद करके गुरुदेव बहुत वैराग्य से एक कड़ी बोले थे जिसमें लगभग ऐसे भाव थे कि—

'माँ यदि तू आज्ञा दे... तो संयम के मार्ग में संचरूँ
वीतराग होकर निजहित साधूँ... केवलज्ञान को प्रगट करूँ' ●

तू शूरवीर होकर मोक्षपंथ में आ!

(प्रभु का मार्ग है शूरों का)

श्रीगुरु शिक्षा देते हैं कि हे भव्य! आत्मा के अनुभव के लिये सावधान होना... शूरवीर होना... जगत की प्रतिकूलता देखकर कायर नहीं होना... प्रतिकूलता के सामने मत देखना, शुद्ध आत्मा के आनन्द के समक्ष देखना। शूरवीर होकर-उद्यमी होकर आनन्द का अनुभव करना। 'हरि का मारग है शूरों का...' वे प्रतिकूलता में या पुण्य की मिठास में कहीं नहीं अटकते; उन्हें एक अपने आत्मार्थ का ही काम है। वे भेदज्ञान द्वारा आत्मा को बन्धन से सर्वथा प्रकार से भिन्न अनुभव करते हैं। ऐसा अनुभव करने का यह अवसर है—भाई! उसमें शान्ति से तेरी चेतना को अन्तर में एकाग्र करके त्रिकाली चैतन्य प्रवाहरूप आत्मा में मग्न कर... और रागादि समस्त बन्धभावों को चेतन से भिन्न अज्ञानरूप जान। इस प्रकार सर्व प्रकार से भेदज्ञान करके तेरे एकरूप शुद्ध आत्मा को शोध। मोक्ष को साधने का यह अवसर है।

अहो! वीतराग का मार्ग... जगत् से अलग है। जगत् का भाग्य है कि सन्तों ने ऐसा मार्ग प्रसिद्ध किया है। ऐसा मार्ग प्राप्त करके, हे जीव! भेदज्ञान द्वारा शुद्ध आत्मा को अनुभव में लेकर तू मोक्षपंथ में आ।

www.vitragvani.com

हे वीरजननी! पुत्र तेरा
जाता है मोक्षधाम में,
नहीं मात दूजी धारेगा...
धारो न शंका लेश वहाँ

अरे! चौरासी के अवतार में जीव को कहीं सुख नहीं, धर्मी पुत्र; जिसने आत्मा को जाना है और संसार से विरक्त है-वह अपनी माता को कहता है कि हे माता! इस संसार में मुझे कहीं चैन नहीं; यह संसार क्लेश और दु:ख से भरा हुआ है। इससे मैं अब छूटना चाहता हूँ और आनन्द से भरपूर मेरा आत्मा, उसे साधने के लिये मैं वन में जाना चाहता हूँ। इसलिए हे माता! दीक्षा के लिये मुझे आज्ञा दे। हम इस संसार में दूसरी माता नहीं करेंगे; इस प्रकार वैराग्यवन्त धर्मात्मा आत्मा को साधने के लिये चल निकलता है। अन्दर जिसे राग से भिन्न आत्मा का अनुभव है, उसकी यह बात है। जिसने अन्दर में मोक्ष का मार्ग देखा है, वह उसे साधता है।

★ ★ ★

कलैयाकुंवर जैसे आठ-आठ वर्ष के राजकुंवर को आत्मा के भानसहित वैराग्य होने पर, आनन्द में लीनता की जब भावना जगती है, तब माता के समीप जाकर दीक्षा के लिये आज्ञा माँगता है कि हे माता! आत्मा के परम आनन्द को साधने के लिये मैं अब जाता हूँ... हे माता! सुखी होने के लिये मैं जाता हूँ... आत्मा के आनन्द का धाम अन्तर में देखा है, उसे साधने के लिये जाता हूँ... इसलिए मुझे आज्ञा दे! माता की आँख में से आँसू की धारा बहती है और पुत्र के रोम-रोम में वैराग्य की छाया छा गयी है; वह कहता

www.vitragvani.com

है कि अरे माता! जननी के रूप में तू मुझे सुखी करना चाहती है, तो मैं मेरे सुख को साधने के लिये जा रहा हूँ, तू मेरे सुख में विघ्न मत कर; माँ! मेरे आत्मा के आनन्द को साधने के लिये मैं जाता हूँ, उसमें तू दुःखी होकर मुझे भिन्न न कर... हे जनेता! मुझे आनन्द से आज्ञा दे, मैं आत्मा के आनन्द में लीन होने के लिये जाता हूँ।

तब, माता भी धर्मात्मा है, वह पुत्र से कहती है कि बेटा! तेरे सुख के पंथ में मैं विघ्न नहीं करूँगी। तेरे सुख का जो पंथ है, वही हमारा पंथ है। माता की आँख में तो आँसू की धारा बह रही है और वैराग्य से कहती है—हे पुत्र! आत्मा के परम आनन्द में लीनता करने के लिये तू जा रहा है, तो तेरे सुख के पंथ में मैं विघ्न नहीं करूँगी... मैं तुझे नहीं रोकूँगी... मुनि होकर आत्मा के परम आनन्द को साधने के लिये तेरा आत्मा तैयार हुआ है, उसमें हमारा अनुमोदन है। बेटा! तू आत्मा के निर्विकल्प आनन्दरस को पी। हमें भी यही करनेयोग्य है। हमारा धन्य भाग्य है कि हमारा पुत्र केवलज्ञान और सिद्धपद को प्राप्त करे! — इस प्रकार माता, पुत्र को आज्ञा देती है।

आहा! आठ वर्ष का कलैयाकुंवर जब वैराग्य से इस प्रकार माता के समीप आज्ञा माँगता होगा और माता जब वैराग्यपूर्वक उसे सुख पंथ में विचरने की आज्ञा देती होगी-उस प्रसङ्ग का दिखाव कैसा होगा!!

पश्चात् वह छोटा-सा राजकुँवर जब दीक्षा लेकर मुनि होता है-एक हाथ में छोटा कमण्डल और दूसरे हाथ में मोरपिच्छी लेकर निकले,—तब तो आहा! मानो छोटे से सिद्ध भगवान ऊपर से उतरे! वैराग्य का अद्भुत दिखाव! आनन्द में लीनता! वाह रे वाह! धन्य तेरी दशा!! ●

www.vitragvani.com

मृत्यु महोत्सव

मृत्यु और फिर महोत्सव! इस दोनों को मेल किस प्रकार है? ऐसा कदाचित् आश्चर्य होगा। लोग तो मृत्यु के समय शोक करेंगे... मृत्यु, वह कहीं उत्सव होता है? हाँ... आराधना के बल से मृत्यु का प्रसङ्ग भी महोत्सवरूप बन जाता है। आराधना के महोत्सवसहित जिसने मृत्यु की, (समाधिमरण किया), वह जीव प्रशंसनीय है।

सम्यग्दर्शन के बिना अनादि काल से जीव ने असमाधिमरण किया है और मोह से उसका मानव जीवन निष्फल गँवा कर चला गया है परन्तु जिसका जीवन, धर्म की आराधनासहित है और ठेठ तक वह सम्यक्त्व आदि की आराधना टिका रखकर आराधकभाव से मरण करता है, उसका जीवन भी धन्य है और मृत्यु भी प्रशंसनीय है। उसके लिये तो वह मृत्यु भी आराधना का एक महोत्सव समान है। ऐसे मृत्यु प्रसङ्ग में साधक जीव अपनी बोधिसमाधि की अखण्डता की भावना भाते हुए प्रार्थना करता है कि—

मृत्युमार्गे प्रवृत्तस्य वीतरागो ददातु मे।
समाधिबोधिपाथेयं यावन्मुक्तिपुरीपुरः॥

हे वीतरागदेव! मृत्युमार्ग में प्रवृत्त ऐसे मुझे, अर्थात् जिसकी मृत्यु नजदीक है ऐसे मुझे, मैं मुक्तिपुरी में पहुँचू तब तक समाधि और बोधिरूप पाथेय प्रदान करो।

मृत्यु का अवसर आने पर साधक को एक ही भावना है कि मेरे रत्नत्रयरूप बोधि और स्वरूप की समाधि अखण्डरूप से

www.vitragvani.com

परभव में भी मेरे साथ रहे। इस लोक के किसी भी पदार्थ की चिन्ता या भावना उसे नहीं है। इसलिए वीतराग भगवान से प्रार्थना करता है कि हे प्रभु! परलोक के पथिक ऐसे मुझे सम्यक्बोधि -समाधिरूप पाथेय प्रदान करो। कब तक? मोक्षपुरी तक पहुँचू तब तक। ●

रे आत्मा!

तेरे जीवन में उत्कृष्ट वैराग्य के जो प्रसङ्ग बने हों और वैराग्य की सितार जब झनझना उठी हो... ऐसे प्रसङ्ग की वैराग्यधारा को भलीभाँति बनाये रखना, बारम्बार उसकी भावना करना। कोई महान प्रतिकूलता, अपयश इत्यादि उपद्रव-प्रसङ्ग में जागृत हुई वैराग्यभावना को याद रखना। अनुकूलता में वैराग्य को भूल मत जाना।

और कल्याणक के प्रसङ्गों को, तीर्थयात्रा इत्यादि प्रसङ्गों को, धर्मात्मा के सङ्ग में हुई धर्मचर्चा इत्यादि कोई अद्भुत प्रसङ्गों को, सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय सम्बन्धी जागृत हुई किन्हीं ऊर्मियों को तथा तेरे प्रयत्न के समय धर्मात्मा के भावों को याद करके बारम्बार तेरे आत्मा को धर्म की आराधना में उत्साहित करना।

www.vitragvani.com

शान्तिदातार सन्त वाणी

★ उद्वेग से भरे हुए इस संसार में अनेकविध दु:ख प्रसङ्ग में ज्ञानी सन्तों की वाणी जीव को कितनी शान्ति देती है, इसका अनुभव प्रत्येक जिज्ञासु जीव को होता है। आत्महित प्रेरक सन्त वाणी में वास्तव में शान्ति का झरना बहता है।

★ वे सन्त कहते हैं कि संसार में चाहे जैसा कठोर प्रसङ्ग बने तो भी जीव को शान्ति रखना, वह कर्तव्य है। वीतरागी देव -शास्त्र-गुरु का स्वरूप विचारकर, उनकी भक्ति में, उनकी महिमा में बारम्बार उपयोग जोड़ना। संसार का दु:ख प्रसङ्ग याद आवे कि तुरन्त ही उपयोग को देव-शास्त्र-गुरु की ओर पलट डालना। दु:ख में आर्तध्यान और रुदन किया करने से तो उल्टे परिणाम बिगड़ते हैं और खोटे कर्म तथा खोटी गति बँधती है। इसलिए ऐसे विचार नहीं आने देकर आत्मा के हित के विचार करना; बलपूर्वक आत्मा को उसमें जोड़ना।

★ सीताजी, अंजना इत्यादि धर्मात्माओं को कैसे प्रसङ्ग बने! तथापि उस प्रतिकूलता में भी धीरज रखकर धर्म में अडिग रहे और देव-गुरु-धर्म की शरण ली। पूर्व में स्वयं ही पापकर्म बाँधा था, उसके उदय से प्रतिकूलता आयी परन्तु अब अभी ऐसे अच्छे भाव रखना कि फिर से ऐसे संयोग-वियोग ही न हो। स्वभाव की ऐसी भावना भाना कि फिर से संयोग ही न मिले। धर्मात्मा का सत्सङ्ग करना, उनकी कथा पड़ना, जैनधर्म की महिमा करना, भगवान के दर्शन-पूजन करना—ऐसे सर्व प्रकार से आत्महित हो,

www.vitragvani.com

वैसे वर्तन करना। धर्म में चित्त पिरोकर समाधान रखना – यही सर्व प्रसङ्ग में श्रेष्ठ उपाय है।

★ जिसने शरीर धारण किया, उसे वह छोड़ना तो है ही; फिर किसी को छोटी उम्र में छूटे या किसी को बड़ी उम्र में छूटे; आत्मा तो अविनाशी है। चौथे काल में तो ऐसे वैराग्य के प्रसङ्ग बनने पर कितने ही जीव, मोक्ष को साधने के लिये दीक्षा लेकर वन में चले जाते थे। ऐसे प्रसङ्ग में तो अन्तर में उतरकर देह से भिन्न आत्मा का अनुभव कर लेने योग्य है।

★ आत्मा की वीरता, आत्मा की वास्तविक बहादुरी तो इसमें है कि अपने आत्मा को परभावों से भिन्न रखना। अन्दर की चैतन्य –चेतना को बाह्य भावों को स्पर्श नहीं करने देना, यही ज्ञायक की वीरता है—

आतमराम अविनाशी आया एकला,
ज्ञान और दर्शन है उसका रूप जो;
बहिरभाव तो स्पर्शे नहीं आत्म को,
सचमुच में वह ज्ञायक वीर गिनाये जो॥

जिनेन्द्र भगवान की और उन्होंने बताये हुए आत्मा की महिमा लाना। मिथ्या देव–गुरु को मानने से तो जीव के भाव बिगड़ते हैं। सच्चे देव–गुरु धर्मात्मा का दृढ़ शरण लेकर आत्मा में आनन्द करना सीखना। जीव स्वयं आनन्दस्वरूप है, उसमें से आनन्द लेना। आत्मा में आनन्द है, इसलिए आत्मा में रुचि लगाना; संसार में तो कहीं रुचे ऐसा नहीं है। कहीं चित्त न लगता हो, तब भगवान के मन्दिर जाकर बैठना... भगवान के गुण का विचार करना कि अहो! ऐसी वीतराग मुद्रा ही शान्तिदायक है।

www.vitragvani.com

★ मुमुक्षु जीव के परिणाम उज्ज्वल होते हैं, प्रत्येक प्रसङ्ग में वह वैराग्य में गतिमान होता है। मुमुक्षु को जातिस्मरण इत्यादि भी वैराग्य का ही कारण होता है, राग का कारण होता ही नहीं। पूर्व के भव और पूर्व के भाव याद आने पर ऐसा लगता है कि आहा! ऐसे भव और ऐसे भाव मैं कर आया; अब तो इस संसार के प्रति वैराग्य ही करनेयोग्य है। इस प्रकार वह आत्मा के साथ सन्धि करके वैराग्य बढ़ाता है।

★ देखो न! सीताजी ने अग्निपरीक्षा के पश्चात् वैराग्य से संसार का परित्याग कर दिया और आर्यिका हो गयीं। रामचन्द्रजी जैसे महान धर्मात्मा और मोक्षगामी पुरुष, उन्हें भी लक्ष्मणजी के वियोग का कैसा प्रसङ्ग आया! छह माह तक लक्ष्मणजी के देह को साथ लेकर घूमे, तथापि अन्तर के श्रद्धा-ज्ञान में उस समय भी देह से भिन्न आत्माराम को देखते थे। आत्मतत्त्व का वेदन एक क्षण भी नहीं छूटा था और संयोग में एक क्षण भी तन्मय नहीं हुए थे। चाहे जैसे प्रसङ्ग में भी ज्ञानी की आत्मपरिणति संसार से विरक्त ही है।

★ जिज्ञासु जीव को सच्चे देव-गुरु-धर्म के प्रति बहुत आदर, भक्ति और अर्पणता होती है। आत्मा गुण का ही पिण्ड है; इसलिए उसे गुण ही रुचते हैं और ऐसे गुणीजनों के प्रति बहुत आदरभाव आता है। लोग भी अवगुण को निन्दते हैं और गुण की प्रशंसा करते हैं। वीतराग के गुण का आदर करके मुमुक्षु स्वयं अपने में वैसे गुण प्रगट करना चाहता है। इस प्रकार विविध प्रकार से सन्तों के वचन में से आत्महित की प्रेरणा लेकर, आत्मा के भाव अच्छे रखना। अच्छे भाव का अच्छा फल आता ही है। वास्तव में ज्ञानी सन्तों की वाणी, मुमुक्षु जीव को अपूर्व शान्ति देनेवाली है।

www.vitragvani.com

★ आत्महित के कार्य में आलसी जीव सदा ही चिन्तवन करता है कि फिर करूँगा... फिर करूँगा... फिर करूँगा... परन्तु यह बात भूल जाता है कि भविष्य में मर जाऊँगा, क्योंकि मरण तो प्रतिक्षण दौड़ते-दौड़ते नजदीक और नजदीक आ रहा है।

★ इसलिए हे भाई! 'करूँगा... करूँगा' ऐसा विलम्बभाव छोड़ दे! मरण को याद करके वर्तमान में ही आत्महित में परिणाम लगा। आत्महित की उत्कृष्ट लगन हो, वहाँ भविष्य की राह देखने का विलम्ब कैसे पोसायेगा? यह कार्य तो इसी क्षण से करना होता है।

★ जिसे अन्तर में आत्मा की गरज हुई हो, सम्यग्दर्शन प्रगट करने की चाहना जागृत हुई हो, ऐसा जीव, चैतन्य को पकड़ने के लिये एकान्त में अन्तर मंथन करता है कि अहो! चैतन्यवस्तु की महिमा कोई अपूर्व है! उसकी निर्विकल्प प्रतीति को किसी राग का या निमित्त का अवलम्बन नहीं है; शुभभाव भी अनन्त बार किये, तथापि चैतन्यवस्तु लक्ष्य में नहीं आयी, तो वह राग से पार चैतन्यवस्तु कोई अन्तर की अपूर्व चीज है। उसकी प्रतीति भी अपूर्व अन्तर्मुख प्रयत्न से होती है-इस प्रकार चैतन्यवस्तु को पकड़ने का अन्तर्मुख उद्यम, वह सम्यग्दर्शन का उपाय है।

★ जिसे शुद्ध आत्मा समझने की धगश जगी है—ऐसे जिज्ञासु जीव को प्रश्न उत्पन्न होता है कि शुद्ध आत्मा का कैसा स्वरूप है? जैसे रण में किसी को पानी की प्यास लगी हो, पानी पीने की छटपटाहट हुई हो, उसे पानी की निशानी सुनने पर और उस पानी

www.vitragvani.com

की ठण्डी हवा आने पर, उस ओर जाने की कैसी छटपटाहट होती है! और फिर पानी पीते ही कितना तृप्त होता है! इसी प्रकार जिसे इस भव रण में भटकते हुए आत्मा का स्वरूप जानने की चटपटी हुई है, वह शुद्ध आत्मा की बात सुनने पर आनन्दित होता है - उल्लसित होता है। उसके अनुभव के लिये उसे छटपटाहट जगती है और पश्चात् सम्यक् पुरुषार्थ द्वारा आत्मस्वरूप को पाकर वह तृप्त होता है। जिसे शुद्ध आत्मस्वरूप जानने की तीव्र जिज्ञासा हुई है—ऐसे जिज्ञासु जीव को यह बात सुनायी जाती है। ●

एक-दो भव में केवलज्ञान लेकर...

जिसने शान्ति की अक्षयनिधि को देखा है; वह धर्मी जीव, देह छूटने के समय शान्ति, शान्ति, शान्तिपूर्वक अन्तरङ्ग में आनन्द के नाथ की शरण लेकर स्वरूप में विशेष-विशेष डुबकी मारता है। जिसने आनन्द के नाथ निज ज्ञायकभाव का अनुभव किया और मरण के समय निज आनन्द सरोवर में लीन होकर शान्तिपूर्वक देह का परित्याग किया, उसका जीवन और उसकी साधना, वास्तव मे सफल है; वह एक-दो भव में केवलज्ञान लेकर मोक्ष प्राप्त करेगा।

www.vitragvani.com

निरन्तर... भानेयोग्य.... भावना

मैं जाननहार हूँ – ऐसे जाननहार तत्त्व का लक्ष्य रखना।

देह, वह मैं नहीं; देह मेरी नहीं; मैं तो देह से भिन्न जाननहार हूँ, जाननहार में उलझन नहीं है।

शरीर में व्याधि है परन्तु ज्ञान में व्याधि नहीं।

मुझमें व्याधि नहीं, मैं तो व्याधि का जाननेवाला हूँ।

शरीर में दबाव पड़े परन्तु ज्ञान में दबाव नहीं।

ज्ञान तो धीर-शान्त-जाननहार है—ऐसे आत्मा का लक्ष्य रखना।

मैं देह के साथ एकमेक होकर कभी रहा नहीं।

मैं तो मेरे ज्ञान के साथ ही एकमेक हूँ।

कभी भी मेरे ज्ञान से छूटकर मैं देहस्वरूप हुआ नहीं।

देह में रहा होने पर भी, देह से भिन्न ही हूँ।

देह का वियोग होने पर भी, मेरे ज्ञानतत्त्व का कभी नाश नहीं होता।

रोगादि शरीर में होते हैं, परन्तु शरीर 'मैं' नहीं।

मैं तो अतीन्द्रियज्ञान हूँ, मेरे ज्ञान में रोगादि का प्रवेश नहीं।

अहो! यह ज्ञानतत्त्व कैसा! — कि चाहे जितने व्याधि इत्यादि प्रसङ्ग के समय भी जिसके लक्ष्य से शान्ति रहे... जिसके लक्ष्य से सर्व प्रकार की उलझन टल जाये।

www.vitragvani.com

अहो! ऐसा ज्ञानमय आनन्दतत्त्व!! वह मैं ही हूँ।

—ऐसा लक्ष्य रखनेवाले को मृत्यु के समय उलझन नहीं होती, उस समय भी उसे चैतन्य की जागृति रहती है। भिन्नता की ऐसी भावना जीवन में निरन्तर भाने योग्य है।

(एक वैराग्यप्रसङ्ग पर पूज्य गुरुदेवश्री सुना हुआ।)

वह जीवन धन्य है...

अहो! इस अशरण संसार में जन्म के साथ मृत्यु लगी ही है। आत्मा की सिद्धि न सधे तब तक जन्म-मरण का चक्र चला ही करेगा... ऐसे अशरण संसार में सन्तों-ज्ञानियों का ही शरण है... जो जीवन सन्तों की शरण में व्यतीत हो और पूज्य गुरुदेव ने बतलाये हुए चैतन्यशरण को लक्ष्यगत करके उसके दृढ़ संस्कार आत्मा में पड़ जाये... वह जीवन धन्य है... और जीवन में यही करनेयोग्य है।

- बहिनश्री चम्पाबेन

www.vitragvani.com

सम्यक्त्व सूर्य

स्वसन्मुखता से अन्तरस्वभाव के निर्विकल्प अनुभवपूर्वक धर्मात्मा के अन्तर में निःशङ्कता इत्यादि किरणों से जगमगाता जो सम्यग्दर्शनरूपी सूर्य उदित हुआ, उस सूर्य का प्रताप आठों कर्मों को भस्म कर डालता है और अष्ट महागुण संयुक्त सिद्धपद प्राप्त कराता है। समकिती धर्मात्मा के आठ गुणों का अद्भुत वर्णन समयसार में कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने किया है; उस पर हुआ विवेचन यहाँ दिया जाता है।

सम्यग्दृष्टि-अन्तरात्मा की अद्भुत अन्तर परिणति की महिमापूर्वक आचार्यदेव कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि को निःशङ्कता आदि जो आठ चिह्न हैं, वे आठ कर्मों को हनन कर डालते हैं। समकिती धर्मात्मा, अन्तर्दृष्टि द्वारा निजरस से भरपूर ऐसे अपने ज्ञानस्वरूप को निःशङ्करूप से अनुभव करता है। ज्ञान के अनुभव में रागादि विकार को जरा भी नहीं मिलाता। निःशङ्करूप से ज्ञानस्वरूप का अनुभव समस्त कर्मों को घात कर डालता है।

ज्ञानस्वरूप के अनुभव द्वारा ही आठ कर्मों का नाश होता है। श्रद्धा में जहाँ परिपूर्ण चैतन्यस्वभाव को रागादि से पार जाना, वहाँ फिर उस चैतन्यस्वभाव के अनुभव द्वारा ज्ञानी को प्रतिक्षण कर्मों का नाश ही होता जाता है और नवीन कर्मों का बन्धन नहीं होता — इस प्रकार श्रद्धा के बल से धर्मी को नियम से निर्जरा होती है। देखो! यह श्रद्धा की महिमा! मैं ज्ञायकस्वभाव हूँ—ऐसे स्वभावसन्मुख दृष्टि होने पर, जो सम्यक्त्वरूपी जगमगाता सूर्य उदित हुआ, उस सूर्य का प्रताप समस्त कर्मों को नष्ट कर डालता

www.vitragvani.com

है। निःशङ्कता, निःकांक्षा, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना – इन आठ अङ्गरूपी किरणों से जगमगाता जो सम्यक्त्वरूपी सूर्य उदित हुआ, उसके प्रताप द्वारा सम्यग्दृष्टि समस्त कर्मों को भस्म करके अल्प काल में ही सिद्धपद को पाता है। समकिती के इन आठ अङ्गों का आठ गाथाओं द्वारा आचार्यदेव अद्भुत वर्णन करते हैं। ●

सम्यग्दृष्टि बहिन

शुद्धोपयोग, वह मोक्षार्थी जीव का भाई है क्योंकि वह शुद्धोपयोग मोक्ष में जाने के लिये भाई के समान सहायक है, साथ में रहनेवाला है; और निर्मल सम्यग्दृष्टिरूपी परिणति, वह भद्रस्वभाववाली बहिन है–जो कि मोक्षार्थी आत्मा पर उपकार करती है।

सम्यग्दृष्टिरूप परिणति, वह साधक आत्मा की मुख्य और स्पष्ट उपकार करनेवाली बहिन है। यह निर्मल आत्मदृष्टिरूपी भगिनी सर्व भव का नाश करके आत्मबन्धु को आनन्द देनेवाली है।

www.vitragvani.com

१. सम्यग्दृष्टि का निःशङ्कित अङ्ग

जो कर्मबन्धनमोहकर्त्ता, पाद चारों छेदता।
चिन्मूर्ति वो शङ्कारहित, सम्यक्त्वदृष्टी जानना॥२२९॥

देखो, यह समकिती जीव का चिह्न! यह समकिती के आचार! सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा जानता है कि मैं तो एक टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायकभाव हूँ, बन्धन मेरे स्वभाव में है ही नहीं; इस प्रकार अबन्ध ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से धर्मी को बन्धन की शङ्का नहीं होती। आत्मा के स्वभाव में बन्धन की शङ्का या भय होवे, वह तो मिथ्यात्वभाव है; धर्मी को उसका अभाव है। कर्म और उस कर्म की ओर का भाव, वह मेरे स्वभाव में है ही नहीं; मैं तो एक ज्ञायकस्वभाव हूँ-ऐसी दृष्टि में धर्मी को निःशङ्कता है; इसलिए शङ्काकृत बन्धन उसे नहीं होता, परन्तु निःशङ्कता के कारण निर्जरा होती है।

देखो भाई! लाखों-करोड़ों रुपये खर्च करने से कोई यह चीज मिले ऐसा नहीं है, यह तो अन्तर की चीज है। पैसा तो पूर्व के पुण्य से मिल जाये, परन्तु यह चीज तो पुण्य से मिले वैसी नहीं है। पैसा और पुण्य दोनों से पार अन्तर की रुचि और प्रतीति का यह विषय है। मैं एक जाननेवाला-देखनेवाला स्वभावमय हूँ। दूसरे बन्धभाव मेरे स्वरूप में हैं ही नहीं-ऐसी दृष्टि से अबन्ध परिणाम में वर्तते सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को बन्धन होने की शङ्कारूप मिथ्यात्व आदि का अभाव है। धर्मी जानता है कि मैं ज्ञायकभाव हूँ; 'मेरा ज्ञायकभाव कर्मों से ढँक गया'—ऐसी शङ्का उसे नहीं होती। कर्मबन्ध के कारणरूप मिथ्यात्वादि भावों का मेरे स्वभाव

www.vitragvani.com

में अभाव ही है—ऐसी ज्ञायकस्वभाव की निःशङ्कता ही धर्म का साधन है। ज्ञायकस्वभाव की सन्मुखता हुई, वहाँ दूसरे साधन में व्यवहार साधन का उपचार आया परन्तु जहाँ ज्ञायकस्वभाव के सन्मुख दृष्टि नहीं, वहाँ तो दूसरे साधन को व्यवहार साधन भी नहीं कहा जाता।

जीव को ऐसा लगना चाहिए कि अरे, मेरा क्या होगा? मेरा हित कैसे होगा? अनादि संसार में कहीं बाहर में शरण नहीं मिली, परभाव भी मुझे शरणरूप नहीं हुए; इसलिए अन्तर में मेरा शरण खोजूँ! क्या इसी स्थिति में रहना है? भाई! अन्तर में तेरा शरण है, उसे पहचान! तेरा आत्मा ज्ञायकस्वभावमय है, वही तुझे शरणरूप है। ऐसे आत्मा को लक्ष्य में लेने से तुझे अल्प काल में मोक्ष होने के सम्बन्ध में निःशङ्कता हो जायेगी।

समकिती धर्मात्मा ने अपने ध्रुवज्ञायकस्वभाव को जानकर उसकी शरण ली है, उस स्वभाव की शरण में उसे निःशङ्कता हो गयी है कि हमारे आत्मा को हमने अनुभव में लिया है और उसके ही आधार से अब अल्प काल में पूर्णानन्दरूप सिद्धदशा होगी।

चौथे गुणस्थान में समकिती को भी ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि में ऐसी निःशङ्कता है; बन्धन करनेवाले मिथ्यात्वादि भाव मेरे स्वभाव में हैं ही नहीं—ऐसे भाव में धर्मी को बन्धन होने की शङ्का नहीं होती; इसलिए उसे शङ्काकृत बन्धन नहीं होता परन्तु निःशङ्कता के बल से पूर्व कर्म भी उसे निर्जरित हो जाते हैं। ऐसा सम्यग्दृष्टि का निःशङ्कता अङ्ग जानना। ●

www.vitragvani.com

२. सम्यग्दृष्टि का निःकांक्षित अङ्ग

जो कर्मफल अरु सर्व धर्मों की न कांक्षा धारता।
चिन्मूर्ति वो कांक्षारहित सम्यक्त्वदृष्टी जानना॥२३०॥

मैं एक ज्ञायकभाव ही हूँ, ज्ञायकस्वभाव ही मेरा धर्म है; इसके अतिरिक्त बाहर के कोई धर्म मेरे नहीं हैं। कर्म और कर्मों के फल से मैं अत्यन्त भिन्न हूँ–इसके अन्तरभान में धर्मी को किसी भी कर्म या कर्मफल के प्रति आकांक्षा नहीं है, उन सबको वह पुद्गलस्वभाव जानता है; और ज्ञायकस्वभाव से भिन्न सर्व धर्मों के प्रति कांक्षा से रहित है। इस प्रकार धर्मी जीव निःकांक्ष है; इसलिए उसे कांक्षाकृत बन्धन नहीं होता परन्तु पूर्वकर्म निर्जरित हो जाते हैं।

मैं ज्ञानस्वभाव हूँ—ऐसी ज्ञाननिधि जिसने अपने पास देखी है, उसे पर की कांक्षा कैसे होगी? आनन्द से भरपूर चैतन्यरिद्धि के समक्ष जगत की किसी रिद्धि को ज्ञानी नहीं चाहता। क्योंकि—

सिद्धि-रिद्धि-वृद्धि दीसे घट में प्रगट सदा,
अन्तर की लक्ष्मी सों अजापी लक्षपती है;
दास भगवन्त के उदास रहे जगतसों,
सुखीया सदैव ऐसे जीव समकिती है।

समकिती जानता है कि अहो, मेरे आत्मा की सिद्धि, रिद्धि और वृद्धि सदा मेरे घट में-अन्तर में ही है; ऐसी अन्तर की चैतन्यलक्ष्मी के लक्ष्य द्वारा वह अयाचक लक्षपति है, बाहर की सिद्धि को चाहता नहीं; और वह जिनेन्द्र भगवान का दास है तथा जगत से उदास है—ऐसे समकिती जीव सदा सुखिया हैं। आहाहा!

www.vitragvani.com

जिसके पास इन्द्र का वैभव तो क्या! परन्तु तीन लोक की विभूति, वह भी वास्तव में 'भूतिसमान' / राख समान है, ऐसे चैतन्य की अचिन्त्य विभूति जिसने अपने अन्तर में देखी, वह जीव बाहर की विभूति की वाञ्छा कैसे करेगा?

चैतन्य की रिद्धि के समक्ष धर्मी को जगत की किसी रिद्धि की कांक्षा नहीं है। जहाँ जीवस्वभाव प्रतीति में आया, वहाँ कनक या पाषाण इत्यादि सर्व को अजीव का धर्म जानकर, धर्मी को उसकी कांक्षा नहीं होती। जगत में प्रशंसा हो या निन्दा हो, परन्तु उससे स्वयं का हित-अहित धर्मी नहीं मानता; इसलिए उसे उस सम्बन्धी कांक्षा नहीं है। ज्ञायकस्वभाव की भावना में दूसरे परभावरूप अन्य धर्मों की आकांक्षा ज्ञानी को नहीं होती। इस प्रकार समकिती जीव, जगत में सर्वत्र नि:कांक्ष है; इसलिए उसे पर की कांक्षाकृत बन्धन नहीं होता, परन्तु नि:कांक्षा के कारण निर्जरा ही होती है।

अरे जीव! 'क्या इच्छत, खोवत सबै, है इच्छा दु:ख मूल'

सुख तो तेरे चैतन्यस्वभाव में है, उस सुख को चूककर बाहर के पदार्थों में से सुख लेने की वाञ्छा तू क्यों करता है? अपने ज्ञानानन्दस्वभाव की भावना छोड़कर पर की इच्छा, वह दु:ख का मूल है। धर्मी को ज्ञानानन्दस्वभाव के अतिरिक्त दूसरे किसी की भावना नहीं है। धर्मी को अस्थिरताजन्य इच्छा होती है, उस इच्छा की उसे भावना नहीं है; उस इच्छा को अपने ज्ञायकस्वभाव से भिन्न जानता है, इसलिए ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि में परमार्थ से उसे इच्छा का अभाव ही है। इस प्रकार इच्छा के अभाव के कारण उसे सर्वत्र नि:कांक्षितपना ही है और उसे निर्जरा ही होती है—ऐसा सम्यग्दृष्टि का नि:कांक्ष अङ्ग जानना। ●

www.vitragvani.com

३. सम्यग्दृष्टि का निर्विचिकित्सा अङ्ग

सब वस्तुधर्मविषैं जुगुप्साभाव जो नहिं धारता।
चिन्मूर्ति निर्विचिकित्स वो, सद्दृष्टि निश्चय जानना॥२३१॥

मैं एक वीतरागी ज्ञानस्वभाव हूँ—ऐसा जहाँ अन्तर्वेदन हुआ, वहाँ धर्मी को जगत के किसी पदार्थ के स्वरूप के प्रति ग्लानि नहीं होती; पदार्थों का ऐसा ही स्वभाव है-ऐसा जानकर उनके प्रति धर्मी को दुर्गञ्छा (ग्लानि) नहीं होती। मैं तो शान्त ज्ञानस्वरूप ही हूँ - ऐसा ज्ञानवेदन में रहता हुआ, ग्लानि का अभाव होने से, धर्मी को निर्जरा ही होती है, बन्धन नहीं होता। किन्हीं रत्नत्रय धारक मुनिराज का शरीर मलिन-काला कुबड़ा हो तो वहाँ धर्मी को जुगुप्सा नहीं होती। वह जानता है कि अहो! आत्मा का स्वभाव तो रत्नत्रयमय पवित्र है और यह मलिनता तो शरीर का स्वभाव है, शरीर ऐसे स्वभाववाला है—इस प्रकार वस्तुस्वभाव को चिन्तवन करते हुए धर्मात्मा को जुगुप्सा-ग्लानि नहीं होती; इसलिए उसे ग्लानिकृत बन्धन नहीं होता।

मैं तो ज्ञान हूँ, मेरे ज्ञान में मलिनता नहीं है तथा मलिन वस्तु को जानने से ज्ञान कहीं मलिन नहीं हो जाता; मलिनता को जानते हुए धर्मात्मा को ऐसी शङ्का नहीं होती कि मेरा ज्ञान ही मलिन हो गया है; वह तो ज्ञान को पवित्ररूप ही अनुभव करता है, इसलिए उसे वास्तव में जुगुप्सा-ग्लानि नहीं होती।

शरीर में क्षुधा-तृषा हो, रोग हो, छेदन-भेदन और खून का प्रवाह चले, वहाँ धर्मी उसे जड़ की अवस्था जानता है। अरे! मैं तो

www.vitragvani.com

आत्मा हूँ, यह सब जड़ की अवस्था मुझसे भिन्न है—ऐसे सम्यग्ज्ञान में वर्तते धर्मात्मा को संयोगीदृष्टि छूट गयी है, इसलिए पदार्थ के स्वरूप के प्रति उसे द्वेष नहीं होता; अपनी अल्प सहनशक्ति से किसी समय अल्प अरुचिता का भाव हो जाता है, वह तो अस्थिरता मात्र का दोष है, परन्तु श्रद्धा का दोष नहीं। देह से भिन्न आत्मा के आनन्द का जिसने निर्णय किया होगा, उसे देह की दुर्गन्धित अवस्था के समय आत्मा की पवित्रता में शङ्का नहीं होती; देह मैं नहीं, मैं तो आनन्द हूँ—ऐसे आत्मा के ज्ञानानन्दस्वरूप की सुगन्ध (संस्कार) जिसने अपने में बैठाये होंगे, उसे देह की दुर्गन्ध आदि अवस्था के समय भी ज्ञान की एकताबुद्धि नहीं छूटेगी, अर्थात् ज्ञान की एकता से छूटकर उसे दुर्गञ्छा (ग्लानि) नहीं होती।

मेरे आत्मा की पवित्रता का पार नहीं, मेरा आत्मा तो पवित्रस्वरूप है और ये देहादि तो स्वभाव से ही अपवित्र हैं—ऐसा जाननेवाले धर्मात्मा को कहीं परद्रव्य में ग्लानि नहीं होती; इसलिए कैसे भी मलिन इत्यादि पदार्थों को देखकर भी, पवित्र ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा से च्युत नहीं होते। जैसे दर्पण में कैसे भी मलिन पदार्थों का प्रतिबिम्ब पड़े, तो भी वहाँ दर्पण को उनके प्रति दुर्गञ्छा / ग्लानि नहीं होती; उसी प्रकार ज्ञानस्वरूप स्वच्छ दर्पण में कैसे भी पदार्थ ज्ञात हों, तथापि दुर्गञ्छा-द्वेष करने का उसका स्वभाव नहीं है। ऐसे ज्ञानस्वभाव को अनुभव करते हुए ज्ञानी को दुर्गञ्छा का अभाव होने से बन्धन नहीं होता किन्तु निर्जरा ही होती है। ऐसा सम्यग्दृष्टि का निर्विचिकित्सा अङ्ग है। ●

www.vitragvani.com

४. सम्यग्दृष्टि का अमूढ़दृष्टि अङ्ग

संमूढ़ नहिं सब भाव में जो, -सत्यदृष्टी धारता।
वो मूढ़दृष्टिविहीन सम्यग्दृष्टि निश्चय जानना ॥२३२॥

जिसे आत्मा के ज्ञानस्वरूप की दृष्टि हुई है, वह धर्मात्मा अनेक प्रकार की विपरीत बातें सुनकर भी उलझता नहीं है। विपरीत युक्तियाँ सुनकर भी उसे अपने स्वरूप में उलझन या शङ्का नहीं होती। वस्तु का स्वरूप अनेक विद्वान भिन्न प्रकार से कहें, वहाँ समकिती धर्मात्मा को उलझन नहीं होती कि यह सत्य होगा या यह सत्य होगा! अनेक बड़े-बड़े विद्वान एकत्रित होकर विपरीत प्ररूपणा करे, तथापि वहाँ धर्मी शङ्कित नहीं हो जाता। ज्ञानानन्दस्वभाव की जो दृष्टि हुई है, उसमें निःशङ्करूप से वर्तता है।

सर्व पदार्थ के स्वरूप को समकिती यथार्थ जानता है। शास्त्रों में पूर्व में हो गये तीर्थङ्कर इत्यादि का; दूरवर्ती असंख्य द्वीप-समुद्र-सूर्य-चन्द्र-मेरु और विदेहक्षेत्र का तथा सूक्ष्म परमाणु इत्यादि का वर्णन आता है, वहाँ धर्मी को शङ्का या उलझन नहीं होती कि यह कैसे होगा! मैं तो ज्ञायकभाव हूँ, ज्ञायकभाव में मोह है ही नहीं तो उलझन कैसी? वह निर्मोहरूप से अपने ज्ञानस्वरूप को अनुभव करता है। जैसे लौकिक में चतुराईवाले मनुष्य अनेक प्रकार के व्यवधानकारक प्रसङ्ग आ पड़ने पर उलझते नहीं परन्तु हल कर डालते हैं; इसी प्रकार धर्मात्मा अपने स्वभाव के पन्थ में उलझते नहीं; अनेक प्रकार की जगत् की कुयुक्तियाँ आ पड़ें, तो भी धर्मात्मा अपने आत्महित के कार्य में उलझते नहीं। चाहे जिस प्रकार से भी अपना आत्महित क्या है? - यह शोध लेते हैं। इस

www.vitragvani.com

प्रकार कहीं भी उन्हें उलझन नहीं होती। अस्थिरताजन्य जो उलझन होती है, वह कहीं श्रद्धा को दूषित नहीं करती, अर्थात् श्रद्धा के विषय में तो उन्हें उलझन का अभाव ही है। ऐसी श्रद्धा के जोर से धर्मी को निर्जरा ही होती जाती है, बन्धन नहीं होता। सर्व भावों के प्रति कहीं भी उन्हें विपरीत दृष्टि नहीं होती, इसलिए धर्मी की दृष्टि में उलझन का अभाव है।

जैसे किसी साहूकार के पास लाखों-करोड़ों रुपये की पूँजी हो और कोई दूसरे लोग उसकी पैढ़ी पर लिख जाये कि 'इस व्यक्ति ने दिवाला निकाला', ऐसे अनेक लोग एकत्रित होकर कदाचित् प्रचार करें, तथापि वह साहूकार उलझन में नहीं आता; वह निःशङ्क जानता है कि मेरी सब पूँजी मेरे पास सुरक्षित पड़ी है, लोग कुछ भी बोलें परन्तु मेरा हृदय और मेरी पूँजी तो मैं जानता है। इस प्रकार साहूकार को उलझन नहीं होती।

इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा निःशङ्क जानता है कि मेरे चैतन्य की बुद्धि मेरे पास मेरे अन्तर में है; बाह्य दृष्टि लोग भले अनेक प्रकार से विपरीत कहें या निन्दा करें परन्तु धर्मी को अपने अन्तरस्वभाव की प्रतीति में उलझन नहीं होती; लोग भले चाहे जैसा बोलें परन्तु मेरी स्वभाव की प्रतीति का वेदन मैं जानता हूँ, मेरे स्वभाव की श्रद्धा निःशङ्करूप से सुरक्षित पड़ी है। मेरा वेदन-मेरे चैतन्य की पूँजी-तो मैं जानता हूँ; इस प्रकार धर्मी जीव को अपने स्वरूप में कभी उलझन नहीं होती; इसलिए उसे मूढ़ताकृत बन्धन नहीं होता परन्तु निर्मोहता के कारण निर्जरा ही होती है - ऐसा सम्यग्दृष्टि का अमूढ़दृष्टि अङ्ग है। ●

www.vitragvani.com

५. सम्यग्दृष्टि का उपगूहन अङ्ग

मैं ज्ञायकस्वभाव हूँ - ऐसे अन्तरस्वभाव के अनुभवपूर्वक जहाँ निःशङ्क प्रतीति हुई, वह समकिती निर्भयरूप से अपने स्वरूप को साधता है, उसे वहाँ सप्त प्रकार के भय नहीं होते और निःशङ्कता इत्यादि आठ प्रकार के गुण होते हैं। उन गुणों का यह वर्णन चल रहा है। समकिती के निःशङ्कता, निःकांक्षिता, निर्विचिकित्सा और अमूढ़दृष्टि-इन चार अङ्गों का वर्णन हो गया है। अब इस गाथा में पाँचवाँ उपगूहन अङ्ग बतलाते हैं।

जो सिद्धभक्तीसहित है, गोपन करें सब धर्म का।
चिन्मूर्ति वो उपगुहनकर सम्यक्तदृष्टी जानना॥२३३॥

समकिती धर्मात्मा, सिद्धभक्तिसहित है। सिद्धभक्ति में अर्थात् सिद्ध समान अपने शुद्ध आत्मा में उपयोग को गोपन किया होने से (-जोड़ा होने से) धर्मी को 'उपगूहन' है और प्रतिक्षण उसकी आत्मशक्तियाँ बढ़ती होने से उसे 'उपबृंहण' भी है। मैं चिदानन्द-स्वभाव हूँ—ऐसे अन्तर में उपयोग को जोड़ा, वहाँ गुणों का उपबृंहण और रागादि विकार का उपगूहन हो गया। स्वभाव की शुद्धता प्रगट हुई, वहाँ दोषों का उपगूहन हो गया। आत्मा के ज्ञानानन्दस्वरूप के अवलम्बन से प्रतिक्षण धर्मात्मा को गुण की शुद्धता बढ़ती जाती है और दोष टलते जाते हैं, इसका नाम उपबृंहण अथवा उपगूहन है। धर्मी की दृष्टि में अल्प दोष की मुख्यता होकर स्वभाव ढंक जाए —ऐसा कभी नहीं होता। अल्प दोष हों, उन्हें जानता है परन्तु उससे ऐसी शङ्का नहीं करता कि मेरा सम्पूर्ण स्वभाव, मलिन हो

www.vitragvani.com

गया। दृष्टि में ज्ञानानन्दस्वभाव की मुख्यता में धर्मी को अल्प दोष की गौणता होने से उपगूहन अङ्ग वर्तता ही है और प्रतिक्षण उसकी आत्मशुद्धि बढ़ती जाती है, इसलिए धर्मी को प्रतिक्षण निर्जरा होती जाती है।

धर्मी ने अपने शुद्ध चैतन्यमूर्तिस्वभाव में उपयोग जोड़ा है, उसका नाम परमार्थ से 'सिद्धभक्ति' है; जहाँ शुद्धस्वभाव पर दृष्टि है, वहाँ अल्प दोष पर दृष्टि ही नहीं; इसलिए उसे दोष का उपगूहन वर्तता है। चैतन्यस्वभाव को प्रसिद्ध करके दोष का उपगूहन कर डाला है; एक क्षण भी दोष की मुख्यता करके स्वभाव को चूक नहीं जाते; इसलिए उन्हें शुद्धता बढ़ती ही जाती है। ऐसा धर्मी का उपगूहन है; उन्हें प्रति समय मोक्षपर्याय के सम्मुख ही परिणमन हो रहा है। अहो! दृष्टि का ध्येय तो द्रव्य है और द्रव्य तो मुक्तस्वरूप है; इसलिए दृष्टि में धर्मी प्रतिक्षण मुक्त ही होता जाता है। वास्तव में मिथ्यात्व ही संसार है और सम्यक्त्व, वह मुक्ति है। धर्मी को अन्तर में शुद्ध चैतन्यस्वभाव पर दृष्टि है, उसकी ही भक्ति है और उसका फल मुक्ति है। पर्याय के अल्प दोष के प्रति आदर नहीं; इसलिए उसकी भक्ति नहीं; उस अल्प दोष को मुख्य करके स्वभाव की मुख्यता को भूल नहीं जाती – ऐसे धर्मात्मा को अशुद्धता घटती ही जाती है और शुद्धता बढ़ती ही जाती है; इसलिए उन्हें बन्धन नहीं होता परन्तु कर्मों की निर्जरा ही होती जाती है; इसलिए वे अल्प काल में मुक्त हो जायेंगे।

धर्मी को भी जो राग है वह कहीं निर्जरा का कारण नहीं है, परन्तु अन्तर्मुख दृष्टि के परिणमन से प्रतिक्षण जो आत्मशुद्धि की

www.vitragvani.com

वृद्धि होती है, वह ही निर्जरा का कारण है। किञ्चित् निर्बलता से राग होता है परन्तु उस राग के प्रति धर्मी की दृष्टि का जोर नहीं है; धर्मी की दृष्टि का जोर तो अखण्ड ज्ञायकमूर्ति स्वभाव पर ही है; उस दृष्टि के जोर से शुद्धि की वृद्धि होकर कर्मों की निर्जरा ही होती जाती है। ऐसा सम्यग्दृष्टि का उपबृंहण अथवा उपगूहन अङ्ग है। ●

मनुष्यभव हारकर चला जाता है

विषयों के लिए पागल होकर जिन्दगी गँवा दी और फिर मरण के समय तीव्र आर्तध्यान करता है, परन्तु उससे क्या प्राप्त हो सकता है? अरे रे! मरण के समय कदाचित् 'भगवान.... भगवान...' करे, पञ्च परमेष्ठी का स्मरण करे, परन्तु अन्तरङ्ग में सदा शरणभूत निज ज्ञायक भगवान को गुरुगम से पहचाना न हो, उसकी रुचि -प्रतीति-श्रद्धा नहीं की हो तो प्रभु-स्मरण का शुभराग भी कहाँ शरण दे सकता है?

भले ही करोड़ों रुपये इकट्ठे हुए हों, पचास-पचास लाख (आज के हिसाब से पाँच-दश करोड़) के राजमहल जैसे बँगले बनाये हों, पाँच-पाँच लाख (आज के हिसाब से पचास -पचास लाख) की कीमती मोटर गाड़ियाँ हों, नौकर-चाकर इत्यादि सब राजसी ठाट-बाट हों, परन्तु उससे क्या? यह सब वैभव छोड़कर मरण की पीड़ा से पीड़ित होकर यह अज्ञानी जीव, मनुष्यभव हारकर चला जाता है; पशु और नरकगति में परिभ्रमण करता है।

www.vitragvani.com

६. सम्यग्दृष्टि का स्थितिकरण अङ्ग

उन्मार्ग जाते स्वात्म को भी, मार्ग में जो स्थापता।
चिन्मूर्ति वो थितिकरणयुत, सम्यक्तदृष्टी जानना॥२३४॥

धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि, अन्तरस्वभाव की श्रद्धा के बल से अपने आत्मा को मोक्षमार्ग में स्थिर रखता है; किसी भी प्रसङ्ग में भय से वह अपने आत्मा को मोक्षमार्ग से गिरने नहीं देता। यद्यपि अस्थिरता के रागादि होते हैं, तथापि ज्ञायकस्वभाव की श्रद्धा के बल के कारण वह मोक्षमार्ग से भ्रष्ट नहीं होता, श्रद्धा के बल से स्वयं अपने आत्मा को मोक्षमार्ग में स्थिर रखता है–यही सम्यग्दृष्टि का स्थितिकरण अङ्ग है।

धर्मी को राग-द्वेष आदि के विकल्प तो आते हैं, परन्तु उसमें मोक्षमार्ग से विरुद्धता के विकल्प उन्हें नहीं आते, अर्थात् कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को पोषण करने का या रागादि से धर्म होता है-ऐसी मिथ्यामान्यतारूप उन्मार्ग को पोषण करने का विकल्प तो उन्हें आता ही नहीं; और दूसरे अस्थिरता के जो विकल्प आते हैं, उन विकल्पों को भी ज्ञायकस्वभाव में एकाकाररूप से स्वीकार नहीं करते, अपने ज्ञायकस्वभाव को विकल्प से पृथक् का पृथक् ही देखते हैं; इसलिए सम्यग्दर्शनरूप मार्ग में स्थितिकरण तो उन्हें सदा ही वर्तता ही है परन्तु अस्थिरता से ज्ञान-चारित्ररूप मार्ग के प्रति किसी समय कदाचित् मन्द उत्साह हो जाये और वृत्ति डिग जाये तो अपने ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन की दृढ़ता से दृढ़रूप से अपने आत्मा को मार्ग में स्थिर करते हैं, अपने आत्मा को मार्ग

www.vitragvani.com

से भ्रष्ट नहीं होने देते-ऐसा धर्मी का स्थितिकरण अङ्ग है। ऐसे स्थितिकरण के कारण धर्मी का आत्मा मार्ग से च्युत नहीं होता; इसलिए मार्ग से च्युत होने के कारण से होनेवाला बन्ध उन्हें नहीं होता परन्तु सम्यक्मार्ग की आराधना द्वारा निर्जरा ही होती है।

धर्मात्मा अपने आत्मा को मोक्षमार्ग से च्युत नहीं होते देता तथा दूसरे किसी साधर्मी को कदाचित् मोक्षमार्ग के प्रति निरुत्साही होकर डिगता देखे तो उसे उपदेश आदि द्वारा मोक्षमार्ग के प्रति उत्साहित करके दृढ़रूप से मार्ग में स्थिर करता है-ऐसा स्थितिकरण का शुभभाव भी धर्मी को सहज आ जाता है।

कोई ऐसा जरा-सा डिगने का विचार आ जाये, वहाँ धर्मी, शुद्धस्वभाव की दृष्टि से अपने आत्मा को फिर से मोक्षमार्ग में दृढ़रूप से स्थिर करता है; इस प्रकार अपने आत्मा को मोक्षमार्ग में स्थिर करना, वह निश्चयस्थितिकरण है और व्यवहार से दूसरे आत्मा को भी मोक्षमार्ग से च्युत होने का प्रसङ्ग देखकर उसे उपदेश आदि द्वारा मोक्षमार्ग में स्थिर करने का शुभभाव, धर्मी को आता है, वह व्यवहारस्थितिकरण है।

'अहो! ऐसा महापवित्र जैनधर्म! ऐसा अपूर्व मोक्षमार्ग!! पूर्व में कभी नहीं आराधित ऐसा मोक्षमार्ग... उसे साधकर अब मोक्ष में जाने का अवसर आया है... तो उसमें प्रमाद या अनुत्साह कैसे होगा?' इस प्रकार अनेक प्रकार से मोक्षमार्ग की महिमा प्रसिद्ध करके समकिती अपने आत्मा को तथा दूसरे के आत्मा को मोक्षमार्ग में स्थिर करता है। इसका नाम स्थितिकरण है। ऐसा सम्यग्दृष्टि का स्थितिकरण अङ्ग है। ●

www.vitragvani.com

७. सम्यग्दृष्टि का वात्सल्य अङ्ग

जो मोक्षपथ में 'साधु' त्रय का वत्सलत्व करे अहा।
चिन्मूर्ति वो वात्सल्ययुत, सम्यक्तदृष्टी जानना॥२३५॥

सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, ये तीनों मोक्षमार्ग के साधक होने से 'साधु' हैं; इन तीन साधु के प्रति अर्थात् रत्नत्रय के प्रति धर्मात्मा को परम प्रीतिरूप वात्सल्य होता है। व्यवहार में तो आचार्य-उपाध्याय और मुनि, इन तीन साधुओं के प्रति वात्सल्य होता है और निश्चय से अपने रत्नत्रयरूप तीन साधुओं के प्रति परम वात्सल्य होता है। यहाँ निर्जरा का अधिकार होने से निश्चय-अङ्गों की मुख्यता है; इसलिए आचार्यदेव ने निःशङ्कता आदि आठों अङ्गों का निश्चयस्वरूप बतलाया है।

सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा, टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावमयता के कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीनों रत्नों को अपने से अभेदबुद्धि से सम्यक्रूप से देखता होने से मार्गवत्सल है, अर्थात् मोक्षमार्ग के प्रति अति प्रीतिवाला है; इसलिए उसे मार्ग की अनुपलब्धि से होनेवाला बन्ध नहीं, परन्तु रत्नत्रयमार्ग में अभिन्न बुद्धि के कारण निर्जरा ही है।

देखो, आठों अङ्गों के वर्णन में 'टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायक-स्वभावमयता के कारण'... ऐसा कहकर आचार्यदेव ने विशेष विशिष्टता की है। सम्यग्दृष्टि सदा ही 'टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायक-स्वभावमय' है; इसलिए उसे शङ्का-काँक्षा आदि दोष नहीं होते और इसीलिए उसे निःशङ्कता आदि आठ गुण होते हैं और उनसे

www.vitragvani.com

उसे निर्जरा होती है। इस प्रकार 'टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायक—स्वभावमयता' वह मूलवस्तु है। उसके ही अवलम्बन से ये निःशङ्कता आदि आठों गुण टिके हुए हैं और उसके ही अवलम्बन से निर्जरा होती है। धर्मी की दृष्टि में से उस स्वभाव का अवलम्बन कभी एक क्षणमात्र भी हटता नहीं है।

यहाँ वात्सल्य के वर्णन में भी आचार्यदेव ने अद्भुत बात की है। समकिती को रत्नत्रय के प्रति वात्सल्य होता है; क्यों? तो कहते हैं कि रत्नत्रय को स्वयं से अभेदबुद्धि से देखता होने से उसके प्रति उसे परमवात्सल्य होता है। देखो! इस वात्सल्य में राग की या विकल्प की बात नहीं परन्तु सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तो मेरा स्वभाव ही है - ऐसे रत्नत्रय को अपने आत्मा के साथ अभेदरूप से अनुभवना-उनसे जरा भी भेद नहीं रखना, यही उनके प्रति परमवात्सल्य है। जिस चीज को अपनी मानें, उसके प्रति प्रेम होता है। जैसे गाय को अपने बछड़े के प्रति अतिशय प्रेम होता है; इसी प्रकार धर्मी जानता है कि यह रत्नत्रय तो मेरे घर की-मेरे स्वभाव की चीज है; इसलिए उसे रत्नत्रय के प्रति अतिशय प्रेम होता है; उससे अपनी किञ्चित् भी भिन्नता वह नहीं देखता।

'श्रद्धा' को एकपना ही रुचता है, उसे भेद या अपूर्णता रुचते ही नहीं। सम्यक्श्रद्धा द्वारा धर्मात्मा, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को अपने आत्मा के साथ अभेदबुद्धि से देखता है; रागादि के साथ उसे स्वयं की एकता भासित ही नहीं होती। इस प्रकार ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि में धर्मात्मा, रत्नत्रय को अपने साथ अभेदबुद्धि से देखता होने से, उस रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्ग के प्रति वह अत्यन्त प्रीतिवाला है, मोक्षमार्ग की ओर उसे परमवात्सल्य होता है और रागादि

www.vitragvani.com

विकल्प के प्रति उसे प्रेम नहीं होता। वह विभावों को तो अपने से भिन्न जानता है। रत्नत्रयधर्म को अपने घर की चीज़ जानकर उसमें एकत्वबुद्धिरूप परम प्रेम-यही वीतरागी वात्सल्य है।

देखो, यह धर्मी का वात्सल्य अङ्ग! धर्मी को अपने आत्मा में ही रति-प्रीति है। गाथा २०६ में कहा था कि

इसमें सदा रतिवंत बन, इसमें सदा संतुष्ट रे।
इससे हि बन तू तृप्त, उत्तम सौख्य हो जिससे तुझे॥

हे भव्य! तू इस ज्ञानस्वरूप आत्मा में ही नित्य प्रीति कर, इसमें ही नित्य सन्तुष्ट हो और इससे ही तृप्त हो; —तुझे उत्तम सुख का अनुभव होगा।

अहो! जिसे आत्मा का हित करना हो-वास्तविक सुख चाहिए हो, उसे आत्मा का परम प्रेम करनेयोग्य है। श्रीमद् राजचन्द्र भी कहते हैं कि 'जगत् इष्ट नहीं आत्म से'—अर्थात् जो धर्मी है अथवा धर्म का वास्तविक जिज्ञासु है, उसे जगत् की अपेक्षा आत्मा प्रिय है, आत्मा की अपेक्षा जगत में उसे कोई प्रिय नहीं है।

देखो, गाय को अपने बछड़े के प्रति कैसा प्रेम होता है! और बालक को अपनी माता के प्रति कैसा प्रेम होता है! इसी प्रकार धर्मी को अपने रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्ग के प्रति अभेदबुद्धि से वात्सल्य होता है। इसमें राग की बात नहीं परन्तु रत्नत्रय में ही अभेदबुद्धि है, यही परम वात्सल्य है और अपने रत्नत्रय में परम वात्सल्य होने से बाहर में दूसरे जिन-जिन जीवों में रत्नत्रयधर्म देखता है, उनके प्रति भी वात्सल्य का उफान आये बिना नहीं रहता; दूसरे धर्मात्मा के प्रति साधर्मी के अन्तर में वात्सल्य का झरना प्रवाहित होता है, वह व्यवहार वात्सल्य है।

www.vitragvani.com

धर्मात्मा को जगत में अपना रत्नत्रयस्वरूप आत्मा ही परमप्रिय है; संसार सम्बन्धी दूसरा कोई प्रिय नहीं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय को धर्मी जीव अपने आत्मा के साथ अभेदरूप से देखता है; इसलिए उसे मोक्षमार्ग का अत्यन्त प्रेम है और निमित्तरूप से मोक्षमार्ग के साधक सन्तों के प्रति उसे परम आदर होता है तथा उसे मोक्षमार्ग दर्शानेवाले सर्वज्ञ भगवान और वीतरागी शास्त्रों के प्रति भी प्रेम आता है। कुदेव-कुगुरु-कुधर्म के प्रति या मिथ्यात्वादि परभावों के प्रति धर्मी को स्वप्न में भी प्रेम नहीं आता। इस प्रकार अपने आत्मा के साथ अभेदरूप से ही मार्ग को (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मार्ग को) देखता होने से धर्मात्मा को मार्ग की अप्राप्ति के कारण होनेवाला बन्धन नहीं होता परन्तु मार्ग की उपासना के द्वारा निर्जरा ही होती है। मार्ग को तो अपने आत्मा के साथ अभेदरूप से ही देखता है; इसलिए उसे मार्ग के प्रति परम वात्सल्य है।

देखो, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय के प्रति जिसे अभेदबुद्धि होती है, उसे ही मोक्षमार्ग के प्रति वास्तविक वात्सल्य है; जिसे रत्नत्रय के प्रति जरा भी भेदबुद्धि है, अर्थात् रत्नत्रय को अभेद आत्मा के आश्रय से ही न मानकर, राग के अथवा पर के आश्रय से रत्नत्रय की प्राप्ति होना जो मानता है, उसे वास्तव में रत्नत्रय के प्रति वात्सल्य नहीं है परन्तु उसे तो राग के प्रति और पर के प्रति वात्सल्य है। धर्मी-सम्यग्दृष्टि तो अपने से रत्नत्रय को अभेदबुद्धि से देखता होने से, अर्थात् पर के आश्रय से किञ्चित् भी नहीं देखता होने से, उसे रत्नत्रय के प्रति परम वात्सल्य होता है। ऐसा सम्यग्दृष्टि का वात्सल्य अङ्ग है। ●

www.vitragvani.com

८. सम्यग्दृष्टि का प्रभावना अङ्ग

चिन्मूर्ति मन-रथपंथ में, विद्यारथारूढ घूमता।
जिनराजज्ञानप्रभावकर सम्यक्तदृष्टी जानना ॥२३६॥

सम्यग्दृष्टि, टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावमयता के कारण ज्ञान की समस्त शक्ति को विकासने द्वारा प्रभाव उत्पन्न करता होने से प्रभावना करनेवाला है।

देखो, यह जिनमार्ग की प्रभावना!

चैतयिता, अर्थात् सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा, विद्यारूपी रथ में आरूढ़ हुआ है, अर्थात् अपने ज्ञानस्वभावरूपी रथ में आरूढ़ हुआ है। उसने अपने ज्ञानस्वभावरूपी रथ का ही अवलम्बन लिया है... और उस ज्ञानरथ में आरूढ़ होकर मनरूपी रथ-पंथ में, अर्थात् ज्ञानमार्ग में ही भ्रमण करता है। इस प्रकार स्वभावरूपी रथ में बैठकर ज्ञानमार्ग में प्रयाण करता हुआ, ज्ञानस्वरूप में परिणमता हुआ, सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा, जिनेश्वर के ज्ञान की प्रभावना करता है। अन्तर में ज्ञानस्वभाव में एकाग्रता द्वारा धर्मी को ज्ञान का विकास ही होता जाता है, यही भगवान के मार्ग की वास्तविक प्रभावना है।

इसके अतिरिक्त हीराजड़ित सोना-चाँदी के रथ, कि जिसे उत्तम हाथी, घोड़ा इत्यादि जोड़ें हों, उसमें जिनेन्द्र भगवान को या भगवान के कथित परमागम को विराजमान करके, रथयात्रा द्वारा जगत् में उनकी महिमा प्रसिद्ध करना, वह व्यवहार प्रभावना है। अहो! इन जिनेश्वर भगवान ने हमें मुक्ति का वीतरागमार्ग बतलाया! —ऐसे भगवान के मार्ग के प्रति अतिशय बहुमान होने से उनकी

www.vitragvani.com

महिमा जगत में कैसे बढ़े—ऐसा व्यवहार प्रभावना का भाव, धर्मी को आता है, परन्तु जिसने अन्तर में भगवान का और भगवान के कहे हुए ज्ञानमार्ग का वास्तविकस्वरूप पहचाना हो, अर्थात् ज्ञानस्वभावरूपी रथ में आरूढ़ होकर अपने में ज्ञानमार्ग की निश्चय-प्रभावना की हो, उसे ही सच्ची व्यवहारप्रभावना होती है।

आत्मा चैतन्यस्वरूपी है, उसे अनुभव में लेकर सम्यग्दृष्टि जीव, चैतन्यविद्यारूपी रथ में आरूढ़ होकर ज्ञानमार्ग में परिणमित होता है; इस प्रकार वह धर्मात्मा, जिनेश्वरदेव के ज्ञान की प्रभावना करनेवाला है। देखो, यह धर्मी की प्रभावना! 'प्र... भावना' अर्थात् चैतन्यस्वरूप की विशेष भावना कर-करके धर्मी जीव अपनी ज्ञानशक्ति का विस्तार करता है, यही प्रभावना है। ज्ञान की विशेष परिणतिरूप प्रभावना द्वारा धर्मी को निर्जरा ही होती जाती है। अपने ज्ञानस्वरूप की विशेष भावना ही जिनमार्ग की वास्तविक प्रभावना है।

जैसे जिनेन्द्र भगवान के वीतरागबिम्ब को रथ इत्यादि में स्थापित करके बहुमानपूर्वक नगर में फिराया जाता है—इस प्रकार का शुभभाव वह व्यवहारप्रभावना है क्योंकि इस प्रकार भगवान की रथयात्रा इत्यादि देखकर लोगों को जैनधर्म की महिमा आती है और इस प्रकार जैनधर्म की प्रभावना होती है। शुभराग के समय ऐसा प्रभावना का भाव भी धर्मी को आता है। अहो, ऐसा वीतरागी जैनमार्ग! वह लोक में प्रसिद्ध हो और लोग उसकी महिमा जाने—ऐसा भाव धर्मात्मा को आता है और निश्चय से ज्ञान को अन्तर के चैतन्यरथ में जोड़कर स्वभाव की विशेष भावना द्वारा अपने ज्ञान की प्रभावना करता है। 'मैं ज्ञायक हूँ'—ऐसा जो अनुभव हुआ है,

www.vitragvani.com

उसमें बारम्बार उपयोग को झुकाता हुआ धर्मात्मा अपने आत्मा को जिनमार्ग में आगे बढ़ाता है, यह निश्चय से प्रभावना है। मिथ्यात्व के कुमार्ग से परान्मुख करके चैतन्य रथ में आत्मा को बैठाना और इस प्रकार चैतन्य रथ में बैठाकर आत्मा को जिनमार्ग / मोक्षमार्ग में ले जाना, वह धर्म की वास्तविक प्रभावना है; ऐसी प्रभावना से धर्मी को प्रतिक्षण निर्जरा होती जाती है और अप्रभावनाकृत बन्धन उसे नहीं होता। ऐसा सम्यग्दृष्टि का प्रभावना अङ्ग है।

★ ★ ★

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि को अपने चैतन्यस्वरूप सम्बन्धी निःशङ्कता, चैतन्य से भिन्न परद्रव्यों के प्रति निःकाँक्षा इत्यादि ये अङ्ग होते हैं, वह बतलाया। ये आठ अङ्ग, आत्मस्वरूप के आश्रित हैं; इसलिए वे निश्चय हैं; और शुभरागरूप जो निःशङ्कता आदि आठ अङ्ग हैं, वे पर के आश्रित होने से व्यवहार है। यहाँ तो निर्जरा अधिकार है; इसलिए निर्जरा के कारणरूप निश्चय आठ अङ्गों का वर्णन आचार्यदेव ने आठ गाथाओं द्वारा किया है। इन आठ अङ्गोंरूपी तेजस्वी किरणों से जगमगाते सम्यग्दर्शनरूपी सूर्य का प्रताप सर्व कर्मों को भस्म कर डालता है। सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा, इन निःशङ्कता आदि आठ गुणों से परिपूर्ण ऐसे सम्यग्दर्शनरूपी सुदर्शन चक्र द्वारा समस्त कर्मों को घातकर मोक्ष को साधता है।

अहो! निःशङ्कतादि आदि अङ्गरूपी दिव्य किरणों द्वारा ज्वाजल्यमान सम्यग्दर्शनरूपी सूर्य अपने दिव्य प्रताप द्वारा आठ कर्मों को भस्म करके आत्मा को अष्ट महागुणसहित सिद्धपद प्राप्त कराता है।

—ऐसे सम्यक्त्वसूर्य का महान उदय जयवन्त वर्तो। ●

www.vitragvani.com

सम्यग्दर्शन के आठ अङ्गों की कथाएँ

सम्यक् सहित आचार ही संसार में एक सार है,
जिन ने किया आचरण उनकी नमन सौ-सौ बार है।
उनके गुणों के कथन से गुण ग्रहण करना चाहिये,
अरु पापियों का हाल सुनकर पाप तजना चाहिये॥

अपने शुद्धात्मा की अनुभूतिपूर्वक निःशङ्क श्रद्धा जिसे हुई, उस धर्मात्मा के सम्यग्दर्शन में निःशङ्कितादि आठों निश्चय अङ्ग समा जाते हैं; उनके साथ व्यवहार आठ अङ्ग भी होते हैं। यद्यपि सभी सम्यग्दृष्टि जीव निःशङ्कतादि आठ गुण सहित होते हैं, परन्तु उनमें से एक-एक अङ्ग के उदाहरणरूप अञ्जन चोर आदि की कथा प्रसिद्ध है; उनके नाम रत्नकरण्डश्रावकाचार में समन्तभद्रस्वामी ने निम्न भाँति लिखे हैं।

अंजन निरंजन हुए उनने नहीं शंका चित धरी॥१॥
बाई अनंतमती सती ने विषय आशा परिहरी॥२॥
सज्जन उदायन नृपतिवरने ग्लानि जीती भाव से॥३॥
सत्-असत् का किया निर्णय रेवती ने चाव से॥४॥
जिनभक्तजी ने चोर का वह महादूषण ढँक दिया॥५॥
जब वारिषेणमुनीश मुनि के चपल चित को थिर किया॥६॥
सु विष्णुकुमार कृपालु ने मुनिसंघ की रक्षा करी॥७॥
जय वज्रमुनि जयवंत तुमसे धर्ममहिमा विस्तरी॥८॥

मुमुक्षुओं में सम्यक्त्व की महिमा जागृत करें और आठ अङ्गों के पालन में उत्साह प्रेरित करें, इसलिए इन आठ अङ्गों की आठ कथायें यहाँ दी जा रही हैं।

www.vitragvani.com

१. निःशङ्कित-अङ्ग में प्रसिद्ध
अञ्जनचोर की कथा

अंजनचोर! वह कहीं प्रारम्भ से ही चोर नहीं था; वह तो उसी भव से मोक्ष पानेवाला एक राजकुमार था। उसका नाम था ललितकुमार। अब तो वह निरंजन भगवान है, परन्तु लोग उसे अंजन चोर के नाम से पहचानते हैं।

उस राजकुमार को दुराचारी जानकर राज्य में से निकाल दिया था। उसने एक ऐसा अंजन सिद्ध किया कि जिसके आँजने से स्वयं अदृश्य हो जाए; उस अंजन के कारण उसे चोरी करना सरल हो गया और अंजन चोर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। चोरी के अलावा जुआ और वैश्यासेवन का महान पाप भी वह करता था।

एक बार उसकी प्रेमिका स्त्री ने रानी का सुन्दर रत्नाहार देखा और उस हार के पहिनने की उसकी इच्छा हुयी। जब अंजन चोर उसके पास आया और उसने कहा कि यदि तुम्हें मेरे प्रति सच्चा प्रेम है, तो मुझे वह रत्नहार लाकर दो।

अंजन बोला — देवी! मेरे लिए तो यह तुच्छ बात है — ऐसा कहकर वह तो चौदस की अँधेरी रात में राजमहल में घुस गया और रानी के गले में से हार निकालकर भाग गया।

रानी का अमूल्य हार चोरी हो जाने से चारों तरफ हाहाकार मच गया। सिपाही लोग दौड़े, उन्हें चोर तो दिखायी नहीं पड़ता था, परन्तु उसके हाथ में पकड़ा हुआ हार अन्धेरे में जगमगा रहा था। उसे देखकर सिपाहियों ने उसका पीछा किया। पकड़े जाने के भय

www.vitragvani.com

से हाथ का हार दूर फैंककर अंजन चोर भागा..... और श्मशान में जा पहुँचा। थककर एक वृक्ष के नीचे खड़ा हो गया; वहाँ एक आश्चर्यकारी घटना उसने देखी। वृक्ष के ऊपर छींका टाँगकर एक पुरुष उस पर चढ़-उतर रहा था और कुछ पढ़ भी रहा था। कौन है, यह मनुष्य और ऐसी अन्धेरी रात में यहाँ क्या करता है ?

[पाठक! चलो, अंजन चोर को यहाँ थोड़ी देर खड़ा रखकर हम इस अनजान पुरुष का परिचय प्राप्त करें।]

★ ★ ★

अमितप्रभ और विद्युतप्रभ नाम के दो पूर्व भव के मित्र थे। अतिमप्रभ तो जैन धर्म का भक्त था, और विद्युतप्रभ अभी कुधर्म को मानता था। एक बार वह धर्म की परीक्षा के लिए निकला। एक अज्ञानी तपसी को तप करते देखकर उसकी परीक्षा करने के लिए उससे कहा; अरे बाबाजी! पुत्र के बिना सद्गति नहीं होती—ऐसा शास्त्र में कहा है, — यह सुनकर वह तपसी तो खोटे धर्म की श्रद्धा से वैराग्य छोड़कर संसार-भोगों में लग गया; यह देखकर विद्युतप्रभ ने उस कुगुरु की श्रद्धा छोड़ दी।

फिर उसने कहा कि अब जैन गुरु की परीक्षा करनी चाहिए। तब अमितप्रभ से उसका कहा — मित्र! जैन साधु परम वीतराग होते हैं; उनकी तो क्या बात! उनकी परीक्षा तो दूर रही — परन्तु यह जिनदत्त नाम का एक श्रावक, सामायिक की प्रतिज्ञा करके अन्धेरी रात में इस श्मशान में अकेला ध्यान कर रहा है, उसकी तुम परीक्षा करो।

जिनदत्त की परीक्षा करने के लिए उस देव ने अनेक प्रकार से भयानक उपद्रव किए, परन्तु जिनदत्त सेठ तो सामायिक में पर्वत

www.vitragvani.com

की तरह अडिग ही रहा; अपने आत्मा की शान्ति से वह किञ्चित् मात्र विचलित नहीं हुआ। अनेक प्रकार के भोग-विलास बताये किन्तु उनमें भी वह नहीं लुभाया। एक जैन श्रावक में भी ऐसी अद्भुत दृढ़ता देखकर वह देव अत्यन्त प्रसन्न हुआ; पश्चात् सेठ ने उसे जैनधर्म की महिमा समझायी कि देह से भिन्न आत्मा है, उसके अवलम्बन से जीव अपूर्व शान्ति का अनुभव करता है और उसके ही अवलम्बन से मुक्ति प्राप्त करता है। इससे उस देव को भी जैनधर्म की श्रद्धा हुई और सेठ का उपकार मानकर उसे आकाशगामिनी विद्या दी।

उस आकाशगामिनी विद्या से सेठ जिनदत्त प्रतिदिन मेरु तीर्थ पर जाते, और वहाँ अद्भुत रत्नमय जिनबिम्ब तथा चारणऋद्धिधारी मुनिवरों के दर्शन करते, इससे उन्हें बहुत आनन्द प्राप्त होता था। एकबार सोमदत्त नामक माली के पूछने पर सेठ ने उसे आकाशगामिनी विद्या की सारी बात बतायी और रत्नमय जिनबिम्ब का बहुत बखान किया। यह सुनकर माली को भी उनके दर्शन करने की भावना जागृत हुयी और आकाशगामिनी विद्या सीखने के लिए सेठ से निवेदन किया। सेठ ने उसे विद्या साधना सिखा दिया, तद्नुसार अन्धेरी चतुर्दशी की रात में श्मशान में जाकर उसने वृक्ष पर छींका लटकाया और नीचे जमीन पर तीक्ष्ण नोंकदार भाला गाड़ दिया। अब आकाशगामिनी विद्या को साधने के लिए छींके में बैठकर, पञ्च नमस्कार मन्त्र आदि मन्त्र बोलकर उस छींके की डोरी काटनेवाला था, परन्तु नीचे भाला देखकर उसे भय लगने लगता था और मन्त्र में शङ्का होने लगती थी कि यदि कहीं मन्त्र सच्चा न पड़ा और मैं नीचे गिर गया तो मेरे शरीर में भाला घुस जाएगा। इस प्रकार सशङ्क होकर वह नीचे उतर जाता और फिर

www.vitragvani.com

यह विचार करके कि सेठ ने जो कहा है, वह सत्य ही होगा। यह सोचकर फिर जाकर छींके में बैठ जाता। इस तरह बारम्बार वह छींके में चढ़-उतर कर रहा था; किन्तु निःशङ्क होकर वह डोरी काट नहीं पाता था।

जैसे चैतन्यभाव की निःशङ्कता बिना शुद्ध-अशुद्ध विकल्पों के बीच झूलता हुआ जीव, निर्विकल्प अनुभवरूप आत्मविद्या को नहीं साध सकता, वैसे ही उस मन्त्र के सन्देह में झूलता हुआ वह माली, मन्त्र को नहीं साध पाता था।

इतने में अंजन चोर भागता हुआ वहाँ आ पहुँचा और माली को विचित्र क्रिया करते देखकर उससे पूछा — हे भाई! ऐसी अन्धेरी रात में तुम यह क्या कर रहे हो? सोमदत्त माली ने उसे सब बात बतायी। वह सुनते ही उसको उस मन्त्र पर परम विश्वास जम गया, और कहा कि लाओ! मैं यह मन्त्र साधूँ। ऐसा कहकर श्रद्धापूर्वक मन्त्र बोलकर उसने निःशङ्क होकर छींके की डोरी काट दी, आश्चर्य! नीचे-गिरने के बदले बीच में ही देवियों ने उसे साध लिया, और कहा कि मन्त्र के प्रति तुम्हारी निःशङ्क श्रद्धा के कारण तुम्हें आकाशगामिनी विद्या सिद्ध हो गयी है; अब आकाशमार्ग से तुम जहाँ जाना चाहो, जा सकते हो।

अब अंजन चोरी छोड़कर जैनधर्म का भक्त बन गया; उसने कहा कि जिनदत्त सेठ के प्रताप से मुझे यह विद्या मिली है, इसलिए जिन भगवान के दर्शन करने वे जाते हैं, उन्हीं भगवान के दर्शन करने की मेरी इच्छा है।

★ ★ ★

[बन्धुओ! यहाँ एक बात विशेष लक्ष्य में लेने की है; जब

www.vitragvani.com

अंजन चोर को आकाशगामिनी विद्या सिद्ध हुयी, तब उसे चोरी का धन्धा करने के लिए उस विद्या का उपयोग करने की दुर्बुद्धि उत्पन्न नहीं हुई, किन्तु जिनबिम्ब के दर्शनादि धर्मकार्य में ही उसका उपयोग करने की सद्बुद्धि पैदा हुयी। यही उसके परिणामों का परिवर्तन सूचित करता है और ऐसी धर्मरुचि के बल से ही आगे चलकर वह सम्यग्दर्शनादि प्राप्त करता है।]

★ ★ ★

विद्या सिद्ध करने पर अंजन ने विचार किया कि अहा! जिस जैनधर्म के एक छोटे से मन्त्र से मुझ जैसे चोर को भी ऐसी विद्या सिद्ध हुयी, तो वह जैनधर्म कितना महान होगा! उसका स्वरूप कितना पवित्र होगा। चलो, जिन सेठ के प्रताप से मुझ यह विद्या मिली, उन्हीं सेठ के पास जाकर मैं उस धर्म का स्वरूप समझूँ। और उन्हीं के पास से ऐसा मन्त्र सीखूँ कि जिससे मोक्ष की प्राप्ति हो—ऐसा विचारकर विद्या के बल से वह मेरुपर्वत पर पहुँचा।

वहाँ रत्नों की अद्भुत अरहन्त भगवन्तों की वीतरागता देखकर वह बहुत प्रसन्न हुआ। जिनदत्त सेठ उस समय वहाँ मुनिवरों का उपदेश सुन रहे थे। अंजन ने उनका बहुत उपकार माना और मुनिराज का उपदेश सुनकर शुद्धात्मा का स्वरूप समझकर उसकी निःशङ्क श्रद्धापूर्वक निर्विकल्प अनुभव करके सम्यग्दर्शन प्राप्त किया, इतना ही नहीं, पूर्व पापों का पश्चाताप करके उसने मुनिराज के पास दीक्षा ले ली; साधु होकर आत्मध्यान करते उसे केवलज्ञान प्रगट हो गया और अन्त में कैलाशगिरि से मोक्ष प्राप्त करके सिद्ध हो गए। 'अंजन' के स्थान पर वह 'निरंजन' बन गए। उन्हें नमस्कार हो।

(यह कथा हमें जैनधर्म की निःशङ्क श्रद्धा करके उसकी आराधना का पाठ पढ़ाती है।) ●

www.vitragvani.com

२. निःकांक्षित-अङ्ग में प्रसिद्ध
अनन्तमती की कथा

अनन्तमती! चम्पापुर के प्रियदत्त सेठ उसके पिता, और अङ्गवती उसकी माता, वे दोनों जैनधर्म के परम भक्त और वैरागी धर्मात्मा थे, उनके उत्तम संस्कार अनन्तमती को भी मिले थे।

अनन्तमती अभी तो सात-आठ वर्ष की बालिका थी और गुड़ियों का खेल खेलती थी; इतने में ही एक बार अष्टाह्निका के पर्व में धर्मकीर्ति मुनिराज पधारे और सम्यग्दर्शन के आठ अङ्गों का उपदेश दिया; उसमें निःकांक्ष गुण का उपदेश देते हुए कहा कि — हे जीव! संसार के सुख की वाँछा छोड़कर आत्मा के धर्म की आराधना करो। धर्म के फल में जो संसार-सुख की इच्छा करता है, वह मूर्ख है। सम्यक्त्व या व्रत के बदले में मुझे देवों की या राजाओं की विभूति मिले — ऐसी जो वाँछा करता है, वह तो संसार-सुख के बदले में सम्यक्त्वादि धर्म को बेच देता है, छाछ के बदले में रत्न-चिन्तामणि बेचनेवाले मूर्ख के समान है। अहा, अपने में ही चैतन्य-चिन्तामणि जिसने देखा, वह बाह्य विषयों की वाँछा क्यों करे?

अनन्तमती के माता-पिता भी मुनिराज का उपदेश सुनने के लिये आए थे और अनन्तमती को भी साथ लाए थे। उपदेश के बाद उन्होंने आठ दिन का ब्रह्मचर्यव्रत लिया और हँसी में अनन्तमती से कहा कि तू भी यह व्रत ले ले। निर्दोष अनन्तमती ने कहा— अच्छा, मैं भी यह व्रत अङ्गीकार करती हूँ।

इस प्रसङ्ग को अनेक वर्ष व्यतीत हो गये। अनन्तमती अब

www.vitragvani.com

युवा हुयी, उसका रूप सोलहकलाओं सहित खिल उठा, रूप के साथ -साथ धर्म के संस्कार भी खिलते गये।

एकबार सखियों के साथ वह उद्यान में घूमने-फिरने गयी थी और एक झूले पर झूल रही थी; इतने में उधर से एक विद्याधर राजा निकला और अनन्तमती का अद्भुत रूप देखकर मोहित हो गया, और विमान में उसे उड़ा ले गया, परन्तु इतने में ही उसकी रानी आ पहुँची; इसलिए भयभीत होकर उस विद्याधर से अनन्तमती को भयङ्कर वन में छोड़ दिया। इस प्रकार दैवयोग से एक दुष्ट राजा के पञ्जे से उसकी रक्षा हुयी।

अब घोर वन में पड़ी हुयी अनन्तमती, पञ्च परमेष्ठी का स्मरण करने लगी और भयभीत होकर रुदनपूर्वक कहने लगी कि अरे! इस जङ्गल में मैं कहा जाऊँ? क्या करूँ? यहाँ कोई मनुष्य तो दिखायी नहीं देता।

इतने में उस जङ्गल का राजा भील शिकार करने निकला, उसने अनन्तमती को देखा... अरे! यह तो कोई वनदेवी है या कौन है? ऐसी अद्भुत सुन्दरी दैवयोग से मुझे मिली है; इस प्रकार वह दुष्ट भील भी उस पर मोहित हो गया। वह उसे अपने घर ले गया और कहा - हे देवी! मैं तुम पर मुग्ध हुआ हूँ और तुम्हें अपनी रानी बनाना चाहता हूँ .... तुम मेरी इच्छा पूर्ण करो।

निर्दोष अनन्तमती तो उस पापी की बात सुनते ही सुबक - सुबककर रोने लगी। अरे! मैं शीलव्रत की धारक और मेरे ऊपर यह क्या हो रहा है? अवश्य ही पूर्वजन्म में किसी गुणीजन के शील पर मैंने दोषारोपण या उनका अनादर किया होगा; उसी दुष्टकर्म के कारण आज जहाँ जाती हूँ, वहीं मुझ पर ऐसी विपत्ति

www.vitragvani.com

आ पड़ती है... परन्तु अब वीतराग धर्म का मैंने शरण लिया है, उसके प्रताप से मैं शीलव्रत से डिग नहीं सकती। अन्त में देव भी मेरे शील की रक्षा करेंगे। भले प्राण जायें किन्तु मैं शील को नहीं छोड़ूँगी।

उसने भील से कहा: 'अरे दुष्ट! अपनी दुबुद्धि को छोड़! तेरे धन-वैभव से मैं कभी ललचानेवाली नहीं हूँ। तेरे धन-वैभव को मैं धिक्कारती हूँ!'

अनन्तमयी ऐसी दृढ़ बात सुनकर भील राजा क्रोधित हो गया और निर्दयतापूर्वक उससे बलात्कार करने को तैयार हो गया...

इतने में ऐसा लगा कि मानो आकाश फट गया हो और एक महादेवी वहाँ प्रगट हुई। उस देवी-तेज को वह दुष्ट भील सहन न कर सका, और उसके होश-हवाश उड़ गये। वह हाथ जोड़कर क्षमा माँगने लगा। देवी ने कहा -यह महान शीलव्रती सती है, इसे जरा भी सतायेगा तो तेरी मौत हो जावेगी। और अनन्तमती पर हाथ फेरकर कहा - बेटी! धन्य है तेरे शील को; तू निर्भय रहना। शीलवान सती का बाल बाँका करने में कोई समर्थ नहीं है। ऐसा कहकर वह देवी अदृश्य हो गयी।

वह भील भयभीत होकर अनन्तमती को लेकर नगर में एक सेठ के हाथ बेच आया। उस सेठ ने पहले तो यह कहा कि मैं अनन्तमती को उसके घर पहुँचा दूँगा; ...परन्तु वह भी उसका रूप देखकर कामान्ध हो गया और कहने लगा - हे देवी! अपने हृदय में तू मुझे स्थान दे और मेरे इस अपार धन-वैभव को भोग।

उस पापी की बात सुनकर अनन्तमती स्तब्ध रह गयी। अरे!

www.vitragvani.com

फिर यह क्या हुआ ? वह समझाने लगी कि हे सेठ ! आप तो मेरे पिता-तुल्य हो। दुष्ट भील के चंगुल से छूटकर यहाँ आने के बाद तो मैंने समझा था कि मेरे पिता मिल गये और आप मुझे मेरे घर पहुँचा दोगे। अरे ! आप भले आदमी होकर ऐसी नीच बात क्यों करते हैं ? यह आपको शोभा नहीं देता; अत: ऐसी पापबुद्धि छोड़ो।

बहुत समझाने पर भी दुष्ट सेठ नहीं समझा, तब अनन्तमती ने विचार किया कि इस दुष्ट का हृदय विनय-प्रार्थना से नहीं पिघलेगा, इसलिए क्रोध-दृष्टिपूर्वक उस सती ने कहा कि अरे दुष्ट ! कामान्ध ! तू दूर जा, मैं तेरा मुख भी नहीं देखना चाहती।

अनन्तमती का क्रोध देखकर सेठ भी भयभीत हो गया और उसकी अक्ल ठिकाने आ गयी। क्रोधपूर्वक उसने अनन्तमती को कामसेना नाम की एक वैश्या को सौंप दिया।

अरे ! कहाँ उत्तम संस्कारवाले माता-पिता का घर ! और कहाँ वह वैश्या का घर ! अनन्तमती को अन्तर-वेदना का पान नहीं था, परन्तु अपने शीलव्रत में वह अडिग थी। संसार का वैभव देखकर उसका मन तनिक भी ललचाया नहीं था।

ऐसी सुन्दरी को प्राप्त करके कामसेना वैश्या अत्यन्त प्रसन्न हुयी और 'इससे मुझे बहुत आमदनी होगी' — ऐसा समझकर वह अनन्तमती को भ्रष्ट करने का प्रयत्न करने लगी। उससे अनेक प्रकार के कामोत्तेजक वार्तालाप किये, बहुत लालच दिये, बहुत डर भी दिखाया, परन्तु फिर भी अनन्तमती अपने शीलव्रत से रञ्चमात्र भी नहीं डिगी। कामसेना को तो ऐसी आशा थी कि इस युवा स्त्री का व्यापार करके मैं विपुल धन कमाऊँगी, परन्तु उसकी आशा पर पानी फिर गया। उस बेचारी विषय-लोलुप वैश्या को

www.vitragvani.com

क्या पता कि इस युवा स्त्री ने तो अपना जीवन ही धर्मार्थ अर्पण कर दिया है और संसार के विषय-भोगों की इसे अणुमात्र भी आकांक्षा नहीं है। संसार के भोगों के प्रति इसका चित्त एकदम निष्कांक्ष है। शील की रक्षा करते हुए चाहे जितना दु:ख आ पड़े किन्तु इसे उसका भय नहीं है।

अहा! जिसका चित्त निष्कांक्ष है, वह भय से भी संसार के सुखों की इच्छा कैसे करे? जिसने अपने आत्मा में ही परम सुख का निधान देखा है, वह धर्मात्मा, धर्म के फल में संसार के देवादिक वैभव के सुख स्वप्न में भी नहीं चाहता—ऐसी निष्कांक्षित हुई अनन्तमती की यह दशा ऐसा सूचित करती है कि उसके परिणामों का प्रवाह अब स्वभाव सुख की ओर झुक रहा है। ऐसे धर्मसन्मुख जीव, संसार के दु:ख से कभी नहीं डरते और अपना धर्म कभी नहीं छोड़ते।

संसार के सुख का वाँछक जीव अपने धर्म में अडिग नहीं रह सकता। दु:ख से डरकर वह धर्म को भी छोड़ देता है।

जब कामसेना ने जाना कि अनन्तमती किसी भी प्रकार से वश में नहीं आयेगी, तो उसने बहुत-सा धन लेकर उसे सिंहराज नामक राजा को सौंप दिया।

बेचारी अनन्तमती! — मानों सिंह के जबड़े में जा पड़ी। उसके ऊपर पुन: एक नयी मुसीबत आयी और दुष्ट सिंहराज भी उस पर मोहित हो गया, परन्तु अनन्तमती ने उसका तिरस्कार किया। विषयान्ध हुआ वह पापी अभिमानपूर्वक सती पर बलात्कार करने को तैयार हो गया, किन्तु क्षण में उसका अभिमान चूर हो गया। सती के पुण्य प्रताप से (नहीं,—शीलप्रताप से) वनदेवी

www.vitragvani.com

वहाँ आ गयी और दुष्ट राजा को शिक्षा देते हुए कहा कि खबरदार, भूलकर भी इस सती को हाथ लगाना नहीं। सिंहराज तो देवी को देखते ही श्रृंगाल जैसा हो गया, उसका हृदय भय से काँप उठा; उसने क्षमा माँगी और तुरन्त ही सेवक को बुलाकर अनन्तमती को मानसहित जंगल में छोड़ आने के लिए आज्ञा दे दी।

अब अनजान जंगल में कहाँ जाना चाहिए? इसका अनन्तमती को कुछ पता नहीं था; इतने-इतने उपद्रवों में भी अपने शीलधर्म की रक्षा हुई—ऐसे सन्तोषपूर्वक, घोर जङ्गल के बीच में पञ्च परमेष्ठी का स्मरण करती हुयी आगे बढ़ी। उसके महाभाग्य से थोड़ी ही देर में आर्यिकाओं का एक संघ दिखायी पड़ा, वह अत्यन्त आनन्दपूर्वक आर्यिका माता की शरण में गयी। अहा! विषयलोलुप संसार में जिसको कहीं शरण न मिली, उसने वीतरागमार्गी साध्वी की शरण ली; उसके आश्रय में पहुँचकर अश्रुपूर्ण आँखों से उसने अपनी बीती कथा कही। वह सुनकर भगवती आर्यिका माता ने वैराग्यपूर्वक उसे आश्वासन दिया और उसके शील की प्रशंसा की। भगवती माता की शरण में रहकर वह अनन्तमती शान्तिपूर्वक अपनी आत्मसाधना करने लगी।

★ ★ ★

अब इस तरफ चम्पापुरी में जब विद्याधर, अनन्तमती को उड़ाकर ले गया, तब उसके माता-पिता बेहद दुःखी हुए। पुत्री के वियोग से खेदखिन्न होकर चित्त को शान्त करने के लिए वे तीर्थयात्रा करने निकले और यात्रा करते-करते तीर्थङ्कर भगवन्तों को जन्मपुरी अयोध्या नगरी में आ पहुँचे। प्रियदत्त के साले (अनन्तमती के मामा) जिनदत्त सेठ यहीं रहते थे; वहाँ आते ही आँगन में एक

www.vitragvani.com

सुन्दर रंगोली (चौक) देखकर प्रियदत्त सेठ की आँखों में से आँसुओं की धार वह निकली; अपनी प्रिय पुत्री की याद करके उन्होंने कहा कि मेरी पुत्री अनन्तमती भी ऐसी ही रंगोली पूरती थी; अत: जिसने यह रंगोली पूरी हो, उसके पास मुझे ले जाओ। वह रंगोली पूरनेवाला कोई दूसरा नहीं था, अपितु अनन्तमती स्वयं ही थी; अपने मामा के यहाँ जब वह भोजन करने आयी थी, तभी उसने रंगोली पूरी थी, फिर बाद में वह आर्यिका संघ में चली गयी थी। तुरन्त ही सभी लोग संघ में पहुँचे। अपनी पुत्री को देखकर और उस पर बीती हुई कथा सुनकर सेठ गद्‌गद हो गये, और कहा 'बेटी! तूने बहुत कष्ट भोगे, अब हमारे साथ घर चल, तेरे विवाह की तैयारी करेंगे।'

विवाह का नाम सुनते ही अनन्तमती चौंक उठी और बोली—पिताजी! आप यह क्या कहते हैं? मैंने तो ब्रह्मचर्यव्रत लिया है और आप भी यह बात जानते हैं। आपने ही मुझे यह व्रत दिलाया था।

पिताजी ने कहा—बेटी, यह तो तेरे बचपन की हँसी की बात थी। फिर भी यदि तुम उस प्रतिज्ञा को सत्य ही मानती हो तो भी वह तो मात्र आठ दिन की प्रतिज्ञा थी; इसलिए अब तुम विवाह करो।

अनन्तमती दृढ़ता से कहा—पिताजी आप भले ही आठ दिन की प्रतिज्ञा समझे हों, परन्तु मैंने तो मन से आजीवन ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा धारण की थी। मैं अपनी प्रतिज्ञा प्राणान्त होने पर भी नहीं छोड़ूँगी। अत: आप विवाह का नाम न लेवें।

अन्त मे पिताजी ने कहा—अच्छा बेटी, जैसी तेरी इच्छा, परन्तु अभी तू मेरे साथ घर चल और वही धर्मध्यान करना।

www.vitragvani.com

तब अनन्तमती कहती है—पिताजी! इस संसार की लीला मैंने देख ली, संसार में भोग-लालसा के अतिरिक्त दूसरा क्या है? इससे तो अब बस होओ। पिताजी! इस संसार सम्बन्धी किसी भोग की आकाँक्षा मुझे नहीं है। मैं तो अब दीक्षा लेकर आर्यिका होऊँगी और इन धर्मात्मा आर्यिकाओं के साथ रहकर अपने आत्मिकसुख को साधूँगी।

पिता ने उसे रोकने का बहुत प्रयत्न किया, परन्तु जिसके रोम-रोम में वैराग्य छा गया हो, वह इस असार-संसार में क्या रहे? सांसारिक सुखों को स्वप्न में भी न चाहनेवाली अनन्तमती निःकांक्षित भावना के दृढ़ संस्कार के बल से मोहबन्धन को तोड़कर वीतरागधर्म की साधना में तत्पर हुयी। उसने पद्मश्री आर्जिका के समीप दीक्षा अङ्गीकार कर ली और धर्मध्यानपूर्वक समाधिमरण करके स्त्रीपर्याय को छोड़कर बारहवें स्वर्ग में उत्पन्न हुई।

खेल-खेल में भी लिए हुए शीतव्रत का जिसने दृढ़तापूर्वक पालन किया और स्वप्न में भी सांसारिक सुखों की इच्छा नहीं की, सम्यक्त्व अथवा शील के प्रभाव से कोई ऋद्धि आदि मुझे प्राप्त हो—ऐसी आकांक्षा भी जिसने नहीं की, वह अनन्तमती देवलोक में गयी। अहा! देवलोक के आश्चर्यकारी वैभव की क्या बात! किन्तु परम निष्कांक्षिता के कारण उससे भी उदास रहकर वह अनन्तमती अपने आत्महित को साध रही है। धन्य है उसकी निःकाँक्षिता को!

[— यह कथा, सांसारिक सुख की वाँछा तोड़कर, आत्मिक-सुख की साधन में तत्पर होन के लिए हमें प्रेरणा / शिक्षा देती है।] ●

www.vitragvani.com

३. निर्विचिकित्सा-अङ्ग में प्रसिद्ध
उदायन राजा की कथा

सौधर्म-स्वर्ग में देवों की सभा लगी हुई है; इन्द्र महाराज देवों को सम्यग्दर्शन की महिमा समझा रहे हैं। हे देवों! सम्यग्दर्शन में तो आत्मा का कोई अद्भुत सुख है। जिस सुख के समक्ष इस स्वर्ग-सुख की कोई गिनती नहीं है। इस स्वर्गलोक में मुनिदशा नहीं हो सकती, परन्तु सम्यग्दर्शन की आराधना तो यहाँ भी हो सकती है।

मनुष्य तो सम्यक्त्व की आराधना के अतिरिक्त चारित्रदशा भी प्रगट करके मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। जो जीव, निःशङ्कता, निःकाँक्षा, निर्विचिकित्सा आदि आठ अङ्गों सहित शुद्ध सम्यग्दर्शन के धारक हैं, वे धन्य हैं। ऐसे सम्यग्दृष्टि जीवों की यहाँ स्वर्ग में भी हम प्रशंसा करते हैं।

वर्तमान में कच्छ देश में उदायन राजा ऐसे सम्यक्त्व से शोभायमान हैं तथा सम्यक्त्व के आठों अङ्ग का पालन कर रहे हैं। जिसमें निर्विचिकित्सा-अङ्ग के पालन में वे बहुत दृढ़ हैं। मुनिवरों की सेवा में वे इतने तत्पर हैं कि चाहे जैसा रोग हो तो भी वे रञ्चमात्र जुगुप्सा नहीं करते तथा ग्लानिरहित परमभक्ति से धर्मात्माओं की सेवा करते हैं। उन्हें धन्य हैं! वे चरमशरीरी हैं।

राजा के गुणों की ऐसी प्रशंसा सुनकर वास्तव नाम के एक देव को यह सब प्रत्यक्ष देखने की इच्छा हुयी और वह स्वर्ग से उतरकर मनुष्यलोक में आया।

★ ★ ★

www.vitragvani.com

उदायनराजा एक मुनिराज को भक्तिपूर्वक आहारदान ने लिए पड़गाहन कर रहे हैं — पधारो, पधारो, पधारो! रानी सहित उदायनराजा नवधाभक्तिपूर्वक मुनिराज को आहारदान देने लगे।

अरे, यह क्या? कई लोग तो वहाँ से दूर भागने लगे और बहुत से मुँह के आगे कपड़ा लगाने लगे क्योंकि इन मुनि के काले-कुबड़े शरीर में भयङ्कर कुष्ठ रोग था और उससे असह्य दुर्गन्ध निकल रही थी; हाथ-पैर की उँगलियों से पीप निकल रही थी।

— परन्तु राजा को इसका कोई लक्ष्य नहीं था। वह तो प्रसन्नचित्त होकर परम भक्तिपूर्वक एकाग्रता से मुनि को आहारदान दे रहे थे, और अपने को धन्य मान रहे थे —कि अहा! रत्नत्रयधारी मुनिराज का हमारे घर आगमन हुआ। उनकी सेवा से मेरा जीवन सफल हुआ है।

इतने में अचानक मुनि का जी मचलाया और उल्टी हो गयी; और वह उल्टी राजा-रानी के शरीर पर गिरी। दुर्गन्धित उल्टी गिरने पर भी राजा-रानी को न तो ग्लानि उत्पन्न हुयी और न मुनिराज के प्रति रञ्चमात्र तिरस्कार ही आया; बल्कि अत्यन्त सावधानी से वे मुनिराज के दुर्गन्धमय शरीर को साफ करने लगे और विचारने लगे कि अरे रे! हमारे आहारदान में जरूर कोई भूल हो गयी है, जिसके कारण मुनिराज को यह कष्ट हुआ, हम मुनिराज की पूरी सेवा न कर सके।

अभी तो राजा ऐसा विचार कर रहे हैं कि इतने में वे मुनि अचानक अदृश्य हो गए और उनके स्थान पर एक देव दिखायी दिया। अत्यन्त प्रशंसापूर्वक उसने कहा — हे राजन्! धन्य है

www.vitragvani.com

तुम्हारे सम्यक्त्व को तथा धन्य है तुम्हारी निर्विचिकित्सा को! इन्द्र महाराज ने तुम्हारे गुणों की जैसी प्रशंसा की थी, वैसे ही गुण मैंने प्रत्यक्ष देखे हैं। हे राजन! मुनि के वेश में मैं ही तुम्हारी परीक्षा करने आया था। धन्य है आपके गुणों को!—ऐसा कहकर देव ने नमस्कार किया।

वास्तव में मुनिराज को कोई कष्ट नहीं हुआ — ऐसा जानकर राजा का चित्त प्रसन्न हो गया, और वे बोले — हे देव! यह मनुष्य शरीर तो स्वभाव से ही मलिन है तथा रोगादिक का घर है। अचेतन शरीर मैला हो, उससे आत्मा को क्या? धर्मी का आत्मा तो सम्यक्त्वादि पवित्र गुणों से शोभायमान है। शरीर की मलिनता को देखकर जो धर्मात्मा के गुणों के प्रति अरुचि करता है, उसे आत्मदृष्टि नहीं है; देहदृष्टि है। अरे, चमड़े के शरीर से ढँका हुआ आत्मा अन्दर सम्यग्दर्शन के प्रभाव से शोभायमान है, वह प्रशंसनीय है।

उदायन राजा ऐसी श्रेष्ठ बात सुनकर देव बहुत प्रसन्न हुआ और उसने राजा को कई विद्याएँ दीं तथा अनेक वस्त्राभूषण दिये परन्तु राजा को उन सबकी इच्छा कहाँ थी? वे तो समस्त परिग्रह का त्याग करके वर्द्धमान भगवान के समवसरण में गए और मुनिदशा अङ्गीकार की तथा केवलज्ञान प्रगट करके मोक्ष को प्राप्त हुए। सम्यग्दर्शन प्रताप से वे सिद्ध हुए। उन्हें मेरा नमस्कार हो!

[यह छोटी सी कथा हमें ऐसा बोध देती है कि धर्मात्मा के शरीरादि को अशुचि देखकर भी उनके प्रति ग्लानि मत करो तथा उनके सम्यक्त्वादि पवित्र गुणों का बहुमान करो।] ●

www.vitragvani.com

४. अमूढ़दृष्टि-अङ्ग में प्रसिद्ध
रेवतीरानी की कथा

इस भरतक्षेत्र के बीच में विजयार्द्ध पर्वत स्थित है, उस पर विद्याधर मनुष्य रहते हैं, उन विद्याधरों के राजा चन्द्रप्रभु का मन संसार से विरक्त था, वे राज्यभार अपने पुत्र को सौंपकर तीर्थयात्रा करने के लिए निकल पड़े। वे कुछ समय दक्षिण मथुरा में रहे, वहाँ के प्रसिद्ध तीर्थों और रत्नों के जिनबिम्बों से शोभायमान जिनालय देखकर उन्हें आनन्द हुआ। उस समय मथुरा में गुप्ताचार्य नाम के महा मुनिराज विराजमान थे, वे विशिष्टज्ञान के धारी थे तथा मोक्षमार्ग का उत्तम उपदेश देते थे। चन्द्रराजा ने कुछ दिनों तक मुनिराज का उपदेश श्रवण किया तथा भक्तिपूर्वक उनकी सेवा की।

कुछ समय बाद उन्होंने उत्तर मथुरानगरी की यात्रा को जाने का विचार किया — कि जहाँ से जम्बूस्वामी मोक्ष को प्राप्त हुए हैं तथा जहाँ अनेक मुनिराज विराजमान थे; उनमें भव्यसेन नाम के मुनि भी प्रसिद्ध थे। उस समय मथुरा में वरुण राजा राज्य करते थे, उनकी रानी का नाम रेवती देवी थी।

चन्द्रराजा ने मथुरा जाने की अपनी इच्छा गुप्ताचार्य के समक्ष प्रगट की और आज्ञा माँगी तथा वहाँ के संघ को कोई सन्देश ले जाने के लिए पूछा।

तब श्री आचार्यदेव ने सम्यक्त्व की दृढ़ता का उपदेश देते हुए कहा कि आत्मा का सच्चा स्वरूप समझनेवाले सम्यग्दृष्टि जीव, वीतराग अरहन्तदेव के अतिरिक्त अन्य किसी को देव नहीं मानते।

www.vitragvani.com

जो देव न हो, उसे देव मानना, वह देवमूढ़ता है। ऐसी मूढ़ता धर्मी को नहीं होती। मिथ्यामत के देवादिक बाह्य में चाहे जितने सुन्दर दिखते हों, ब्रह्मा-विष्णु या शंकर के समान हो, तथापि धर्मी-जीव उनके प्रति आकर्षित नहीं होते। मथुरा की राजरानी रेवतीदेवी ऐसे सम्यक्त्व को धारण करनेवाली हैं तथा जैनधर्म की श्रद्धा में वे बहुत दृढ़ हैं, उन्हें धर्मवृद्धि का आशीर्वाद कहना तथा वहाँ विराजमान सुरत-मुनि कि जिनका चित्त रत्नत्रय में मग्न है, उन्हें वात्सल्यपूर्वक नमस्कार कहना।

—इस प्रकार आचार्यदेव ने सुरत मुनिराज को तथा रेवती रानी को सन्देश भेजा परन्तु भव्यसेन मुनि को तो याद भी न किया; इससे राजा को आश्चर्य हुआ, और पुनः आचार्य महाराज से पूछा कि अन्य किसी से कुछ कहना है ? परन्तु आचार्य देव ने इससे अधिक कुछ भी नहीं कहा।

इससे चन्द्रराजा को ऐसा लगा कि क्या आचार्यदेव, भव्यसेन मुनि को भूल गए होंगे ? — नहीं, नहीं, वे भूले तो नहीं हैं, क्योंकि वे विशिष्ट ज्ञान के धारक हैं, इसलिए उनकी इस आज्ञा में अवश्य ही कोई रहस्य होगा। ठीक, जो होगा वह वहाँ प्रत्यक्ष दिखायी देगा — इस प्रकार समाधान करके, आचार्यदेव के चरणों में नमस्कार करके वे मथुरा की ओर चल दिये।

मथुरा में आकर सर्व प्रथम उन्होंने सुरतमुनिराज के दर्शन किए, वे अत्यन्त उपशान्त और शुद्धरत्नत्रय के पालन करनेवाले थे। चन्द्रराजा ने उनसे गुप्ताचार्य का सन्देश कहा उनकी ओर से नमस्कार किया।

www.vitragvani.com

चन्द्रराजा की बात सुनकर सुरतमुनिराज ने प्रसन्नता व्यक्त की और स्वयं भी विनयपूर्वक हाथ जोड़कर श्री गुप्तआचार्य को परोक्ष नमस्कार किया। एक-दूसरे के प्रति मुनियों का ऐसा वात्सल्य देखकर राजा अत्यन्त प्रसन्न हुए। सुरतमुनिराज ने कहा — हे वत्स! वात्सल्य द्वारा धर्म शोभायमान होता है। धन्य है उन रत्नत्रय के धारक आचार्यदेव को — कि जिन्होंने इतनी दूर से साधर्मी के रूप में हमें याद किया। शास्त्र में कहा है कि —

ये कुर्वन्ति सुवात्सल्यं भव्या धर्मानुरागतः।
साधर्मिकेषु तेषां हि सफलं जन्म भूतले॥

अहा! धर्म के द्वारा जो भव्य जीव साधर्मीजनों के प्रति उत्तम वात्सल्य करते हैं, उनका जन्म जगत में सफल है।

प्रसन्नचित्त से भावपूर्वक बारम्बार उन मुनिराज को नमस्कार करके राजा विदा हुए तथा भव्यसेन मुनिराज के पास आये। उन्हें बहुत शास्त्रज्ञान था और लोगों में वे बहुत प्रसिद्ध थे। राजा बहुत समय तक उनके साथ रहे परन्तु उन मुनिराज ने न तो आचार्यसंघ का कोई कुशल-समाचार पूछा और न कोई उत्तम धर्माचर्चा की। मुनि के योग्य व्यवहार-आचार भी उनके ठीक नहीं थे। शास्त्रज्ञान होने पर भी शास्त्रों के अनुसार उनका आचरण नहीं था। मुनि को न करनेयोग्य प्रवृत्ति वे करते थे। यह सब प्रत्यक्ष देखने से राजा को मालूम हो गया कि भव्यसेन मुनि कितने भी प्रसिद्ध क्यों न हों, तथापि वे सच्चे मुनि नहीं। — तो फिर गुप्ताचार्य उनको क्यों याद करते। वास्तव में, उन विचक्षण आचार्य भगवान ने योग्य ही किया।

www.vitragvani.com

इस प्रकार सुरति मुनिराज तथा भव्यसेन मुनि को तो प्रत्यक्ष देखकर परीक्षा की। अब रेवती रानी को आचार्य महाराज ने धर्मवृद्धि का आशीर्वाद भेजा है, इसलिए उनकी भी परीक्षा करूँ —ऐसा राजा को विचार आया।

★ ★ ★

दूसरे दिन मथुरा नगरी के उद्यान में अचानक साक्षात् ब्रह्माजी पधारे हैं। नगरजनों की भीड़ उनके दर्शन को उमड़ पड़ी तथा समस्त नगर में चर्चा होने लगी कि अहा, सृष्टि का सर्जन करने वाले ब्रह्माजी साक्षात् पधारे हैं। वे कहते हैं कि — मैं इस सृष्टि का सर्जक हूँ और दर्शन देने आया हूँ।

मूढ़ लोगों का तो कहना ही क्या ? अधिकांश लोग उन ब्रह्माजी के दर्शन कर आये। प्रसिद्ध भव्यसेन मुनि भी कौतूहलवश वहाँ हो आये, सिर्फ न गए सुरतिमुनि और न गई रेवतीरानी।

जब राजा ने साक्षात् ब्रह्मा की बात की, तब महारानी रेवती ने निःशङ्करूप से कहा — महाराज! यह ब्रह्मा हो नहीं सकते, किसी मायाचारी ने यह इन्द्रजाल रचा है, क्योंकि कोई ब्रह्मा इस सृष्टि के सर्जक हैं ही नहीं। ब्रह्मा तो अपना ज्ञानस्वरूप आत्मा है अथवा भरतक्षेत्र में भगवान ऋषभदेव ने मोक्षमार्ग की रचना की है, इसलिए उन्हें ब्रह्मा कहा जाता है; इसके अतिरिक्त कोई ब्रह्मा नहीं है, जिसको मैं वन्दन करूँ।

दूसरा दिन हुआ... और मथुरा नगरी में दूसरे दरवाजे पर नाग शैय्यासहित साक्षात् विष्णु भगवान पधारे, जिन्हें अनेक शृंगार और चार हाथों में शस्त्र थे। लोगों में तो फिर हलचल मच गयी, बिना विचारे लोग दौड़ने लगे और कहने लगे कि अहा! मथुरा-नगरी

www.vitragvani.com

का महाभाग्योदय हुआ है कि कल साक्षात् ब्रह्माजी ने दर्शन दिए और आज विष्णुभगवान पधारे हैं।

राजा को ऐसा लगा कि आज जरूर रानी चलेगी, इसलिए उन्होंने उमङ्गपूर्वक रानी से वह बात की — परन्तु रेवती जिसका नाम, वीतरागदेव के चरण में लगा हुआ उसका चित्त जरा भी चलायमान नहीं हुआ। श्रीकृष्ण आदि नौ विष्णु (अर्थात् वासुदेव) होते हैं, और वे नौ तो चौथे काल में हो चुके हैं। दसवें विष्णु-नारायण कभी हो नहीं सकते, इसलिए जरूर यह सब बनावटी है, क्योंकि जिनवाणी कभी मिथ्या नहीं होती। इस तरह जिनवाणी में दृढ़ श्रद्धापूर्वक, अमूढ़दृष्टि अङ्ग से वह किञ्चित् विचलित नहीं हुई।

तीसरे दिन फिर एक नयी बात उड़ी। ब्रह्मा और विष्णु के पश्चात् आज तो पार्वतीदेवीसहित जटाधारी शंकर महादेव पधारे हैं। गाँव के लोग उनके दर्शन को उमड़ पड़े। कोई भक्तिवश गए, तो कोई कौतूहल वश गए, परन्तु जिसके रोम-रोम में वीतराग देव का निवास था, ऐसी रेवतीरानी का तो रोम भी नहीं हिला, उन्हें कोई आश्चर्य न हुआ, उन्हें तो लोगों पर दया आयी कि अरे रे! परम वीतराग सर्वज्ञदेव, मोक्षमार्ग को दिखानेवाले भगवान, उन्हें भूलकर मूढ़ता से लोग इस इन्द्रजाल से कैसे फँस रहे हैं। वास्तव में भगवान अरहन्तदेव का मार्ग प्राप्त होना जीवों को बहुत ही दुर्लभ है।

अब चौथे दिन मथुरा नगरी में तीर्थङ्कर भगवान पधारे, अद्भुत समवसरण की रचना, गन्धकुटी जैसा दृश्य और उसमें चतुर्मुखसहित तीर्थङ्कर भगवान। लोग तो फिर से दर्शन करने के लिए दौड़ पड़े।

www.vitragvani.com

राजा को लगा कि इस बार तो तीर्थङ्कर भगवान पधारे हैं, इसलिए रेवतीदेवी जरूर साथ आवेगी।

परन्तु रेवतीरानी ने कहा कि अरे महाराज! इस समय, इस पञ्चम काल में तीर्थङ्कर कैसे? भगवान ने इस भरतक्षेत्र में एक चौबीसी में चौबीस ही तीर्थङ्कर होना कहा है और ऋषभदेव से लेकर महावीर स्वामी तक चौबीस तीर्थङ्कर होकर मोक्ष को पधार चुके हैं। यह पच्चीसवें तीर्थङ्कर कहाँ से आये? यह तो किसी मायावी का मायाजाल है। मूढ़ लोग, देव के स्वरूप का विचार भी नहीं करते और यों ही दौड़े चले जाते हैं।

बस, परीक्षा हो चुकी... विद्याधर राजा को विश्वास हो गया कि इन रेवतीरानी की जो प्रशन्सा गुप्ताचार्य ने की है, वह योग्य ही है, वह सम्यक्त्व के सर्व अङ्गों से शोभायमान हैं। क्या पवन से कभी मेरुपर्वत हिलता होगा? नहीं; उसी प्रकार सम्यग्दर्शन में मेरु समान निष्कम्प सम्यग्दृष्टि जीव, कुधर्मरूपी पवन द्वारा किञ्चित्मात्र चलायमान नहीं होते। उन्हें देव-गुरु-धर्म सम्बन्धी मूढ़ता नहीं होती। वे यथार्थ पहिचान करके सच्चे वीतरागी देव-गुरु-धर्म को ही नमन करते हैं।

रेवतीरानी की ऐसी दृढ़ धर्मश्रद्धा देखकर विद्याधर को अत्यन्त प्रसन्नता हुई और वास्तविक स्वरूप में प्रगट होकर उसने कहा — हे माता! मुझे क्षमा करो। मैंने ही चार दिन तक ब्रह्मा, विष्णु, महेश, आदि का इन्द्रजाल रचा था। गुप्ताचार्य देव ने आपके सम्यक्त्व की प्रशंसा की, इससे आपकी परीक्षा करने के लिए ही मैंने यह सब किया था। अहा! धन्य है आपकी श्रद्धा को! धन्य है! आपकी

www.vitragvani.com

अमूढ़दृष्टि को! हे माता! आपके सम्यक्त्व की प्रशंसापूर्वक श्री गुप्ताचार्य भगवान ने आपको धर्मवृद्धि का आशीर्वाद भेजा है।

मुनिराज के आशीर्वाद की बात सुनते ही रेवतीरानी को अपार हर्ष हुआ। हर्ष-विभोर होकर उन्होंने उस आशीर्वाद को स्वीकार किया और जिस दिशा में मुनिराज विराजते थे, उस ओर सात डग चलकर परमभक्तिपूर्वक मस्तक नमाकर मुनिराज को परोक्ष नमस्कार किया।

विद्याधर राजा ने रेवतीमाता का बड़ा सम्मान किया और उनकी प्रशन्सा करके सारी मथुरा नगरी में उनकी महिमा फैला दी। राजमाता की ऐसी दृढ़ श्रद्धा देखकर और जिनमार्ग की ऐसी महिमा देखकर मथुरा नगरी के कितने ही जीव कुमार्ग को छोड़कर जैनधर्म के भक्त बने और अनेक जीवों की श्रद्धा दृढ़ हुई। इस प्रकार जैनधर्म की महान प्रभावना हुई।

[बन्धुओं! यह कथा हमसे ऐसा कहती है कि वीतराग परमात्मा अरहन्तदेव का सच्चा स्वरूप पहिचानो और उनके अतिरिक्त अन्य किसी भी देव को — साक्षात् ब्रह्मा-विष्णु-शंकर समान दिखते हों, तथापि उन्हें नमन न करो। जिनवचन से विरुद्ध किसी बात को न मानो। भले ही सारा जगत अन्यथा माने और तुम अकेले रह जाओ, तथापि जिनमार्ग की श्रद्धा नहीं छोड़ना।] ●

www.vitragvani.com

५. उपगूहन-अङ्ग में प्रसिद्ध
जिनेद्रभक्त सेठ की कथा

पादलिप्तनगर में एक सेठ रहते थे; वे महान जिनभक्त थे; सम्यक्त्व के धारी थे, तथा धर्मात्माओं के गुणों की वृद्धि और दोषों का उपगूहन करने के लिए प्रसिद्ध थे। पुण्य के प्रताप से वे अपार वैभव-सम्पन्न थे। उनके सात मंजिलवाले महल के ऊपर भाग में एक अद्भुत चैत्यालय था, जिसमें रत्न से बनी हुई भगवान पार्श्वनाथ की मनोहर मूर्ति थी, जिसके ऊपर रत्नजड़ित तीन छत्र थे। उन छत्रों में एक नीलम-रत्न अत्यन्त मूल्यवान था जो अन्धकार में भी जगमगाता रहता था।

अब, सौराष्ट्र के पाटिलपुत्र नगर का राजकुमार—जिसका नाम सुवीर था तथा कुसङ्ग के कारण जो दुराचारी और चोर हो गया था; उसने एकबार सेठ का जिनमन्दिर देखा और उसका मन ललचाया—भगवान की भक्ति से नहीं, परन्तु मूल्यवान नीलम रत्न की चोरी करने के भाव से।

उसने चोरों की सभा में घोषणा की कि जो कोई जिनभक्त सेठ के महल में से वह रत्न ले आएगा, उसे इनाम दिया जाएगा।

सूर्य नाम का एक चोर यह साहसपूर्ण कार्य करने को तैयार हो गया। उसने कहा - अरे! इन्द्र के मुकुट में लगा हुआ रत्न भी मैं क्षणभर में ला सकता हूँ, तो इसमें कौनसी बड़ी बात है?

लेकिन, महल में घुसकर उस रत्न को चुराना कोई सरल बात नहीं थी; वह चोर किसी भी प्रकार सफल नहीं हुआ। अन्त में वह

www.vitragvani.com

एक त्यागी श्रावक का वेष धारण करके सेठ के गाँव में पहुँचा। अपने वाक्-चातुर्य से, व्रत-उपवास आदि के दिखावे से, वह लोगों में प्रसिद्ध होने लगा और उसे धर्मात्मा समझकर जिनभक्त सेठ ने अपने चैत्यालय की देखभाल का काम उसको सौंपा। फिर क्या था; त्यागीजी नीलमणि को देखते ही आनन्द-विभोर हो गए और विचार करने लगे कि कब मौका मिले और मैं इसे लेकर भाग जाऊँ।

इतने में सेठ को दूसरे गाँव जाने का मौका आया और वे उस बनावटी श्रावक को चैत्यालय की देखरेख की सूचनाएँ देकर चले गए। गाँव से कुछ दूर चलकर उन्होंने पड़ाव डाला।

रात हुई, सूर्यचोर उठा, उसने नीलमणि रत्न अपने जेब में रखा और भागा, लेकिन नीलमणि का प्रकाश छिपा न रहा; वह तो अन्धकार में भी जगमगा रहा था। इससे चौकीदारों को सन्देह हुआ और उसे पकड़ने के लिए उसके पीछे दौड़े। अरे! मन्दिर के नीलमणि की चोरी करके चोर भाग रहा है, पकड़ो, पकड़ो—ऐसा चारों ओर कोलाहल मच गया।

जब सूर्यचोर को बचने का कोई उपाय नहीं रहा, तब वह जहाँ जिनभक्त सेठ का पड़ाव था, उसी में घुस गया। चौकीदार उसे पकड़ने को पीछे आये। सेठ सब बात समझ गए, कि यह भाई साहब चोर हैं, लेकिन त्यागी के रूप में प्रसिद्ध यह आदमी चोर है—ऐसा लोगों को पता लगेगा तो धर्म की निन्दा होगी—ऐसा विचारकर बुद्धिमान सेठ ने चौकीदारों को डाँटते हुए कहा — अरे! तुम लोग क्या कर रहे हो? यह कोई चोर नहीं, यह तो 'सज्जन-धर्मात्मा' हैं। मैंने ही इन्हें नीलमणि लाने के लिए कहा था, तुम लोगों ने इन्हें चोर समझकर व्यर्थ हैरान किया।

www.vitragvani.com

सेठ की बात सुनकर चौकीदार शर्मीन्दा होकर वापस चले गए और इस प्रकार एक मूर्ख आदमी की भूल के कारण होनेवाली धर्म की निन्दा रुक गयी। — इसे उपगूहन कहते हैं। जिस प्रकार एक मेढ़क खराब होने से कहीं सारा समुद्र खराब नहीं हो जाता, उसी प्रकार किसी मूर्ख-अज्ञानी मनुष्य द्वारा भूल हो जाने से कहीं पवित्र जैनधर्म मलिन नहीं हो जाता।

जैसे माता इच्छा करती है कि मेरा पुत्र उत्तम गुणवान हो, परन्तु पुत्र में कोई छोटा-बड़ा दोष दिखायी दे तो वह उसे प्रसिद्ध नहीं करती; किन्तु ऐसा उपाय करती है कि उसके गुणों की वृद्धि हो। उसी प्रकार धर्मात्मा भी धर्म का अपवाद हो, ऐसा नहीं करते, लेकिन जिससे धर्म की प्रभावना हो, वह करते हैं। किसी गुणवान धर्मात्मा में कदाचित् कोई दोष आ जाए तो उसे गौण करके उसके गुणों की मुख्यता रखते हैं और एकान्त में बुलाकर, उन्हें प्रेम से समझाकर जिस प्रकार उनके दोष दूर हों और धर्म की शोभा बढ़े, वैसा करते हैं।

लोगों के चले जाने के बाद जिनभक्त सेठ ने भी उस सूर्य चोर को एकान्त में बुलाकर उलाहना दिया और कहा — भाई! ऐसा पापकार्य तुझे शोभा नहीं देता। विचार तो कर कि यदि तू पकड़ा गया होता तो तुझे कितना दु:ख होता। अत: इस धन्धे को तू छोड़।

वह चोर भी सेठ के उत्तम व्यवहार से प्रभावित हुआ और अपने अपराध की क्षमा माँगते हुए बोला कि हे सेठ! आपने ही मुझे बचाया है, आप जैनधर्म के सच्चे भक्त हो; लोगों के सामने आपने मुझे सज्जन धर्मात्मा कहा है, तो अब मैं भी चोरी छोड़कर

www.vitragvani.com

सचमुच सज्जन धर्मात्मा बनने का प्रयत्न करूँगा। जैनधर्म महान है, और आप जैसे सम्यग्दृष्टि जीवों द्वारा वह शोभायमान है।

इस प्रकार सेठ के उपगूहन गुण के द्वारा धर्म की प्रभावना हुयी।

(बन्धुओ! यह कथा हमें ऐसी शिक्षा देती है कि साधर्मी के किसी दोष को मुख्य करके धर्म की निन्दा हो, वैसा नहीं करना, परन्तु प्रेमपूर्वक समझाकर उसे दोषों से छुड़ाना चाहिए; और धर्मात्मा के गुणों को मुख्य करके उसकी प्रशंसा द्वारा धर्म की वृद्धि हो, वैसा करना चाहिए।) ●

पाप करके तुझे कहाँ जाना हैं?

दुनिया में मान-सम्मान मिले, सेठ-पद मिले, पाँच-पच्चीस करोड़ रुपये इकट्ठा करे, दो-पाँच कारखाने लगाये और बड़ा उद्योगपति कहलाये, परन्तु भाई! इसमें तेरा क्या बढ़ा? पाप करके तुझे मरकर कहाँ जाना हैं? अहाहा....! जिसकी महत्ता के आगे, सिद्धपर्याय की महत्ता भी अल्प है, गौण है - ऐसा अपना त्रिकाली पूर्णानन्द सागर चैतन्य द्रव्यस्वभाव की समझ और रुचि के लिए समय नहीं निकाला; बाहर में व्रत, नियम, भक्ति, पूजा इत्यादि में धर्म मानकर रुक गया, परन्तु वह शुभभाव तो राग है, आत्मा का शुद्धभावरूप धर्म नहीं है।

www.vitragvani.com

६. स्थितिकरण-अङ्ग में प्रसिद्ध
वारिषेण मुनि की कथा

महावीर भगवान के समय में राजगृही नगरी में श्रेणिक राजा राज्य करते थे। चेलनादेवी उनकी महारानी और वारिषेण उनका पुत्र था। वारिषेण के अति सुन्दर बत्तीस रानियाँ होते हुए भी वह बहुत वैरागी तथा आत्मज्ञान धारक था।

एकबार राजकुमार वारिषेण उद्यान में ध्यान कर रहे थे, इतने में विद्युत नाम का चोर एक मूल्यवान हार की चोरी करके भाग रहा था; उसके पीछे सैनिक भाग रहे थे। 'मैं पकड़ा जाऊँगा'—इस डर के कारण हार को वारिषेण के आगे फैंककर वह चोर छिप गया, राजकुमार को ही चोर समझकर राजा ने फाँसी की सजा दी, परन्तु जब बधिक ने राजकुमार पर तलवार चलायी, तब वारिषेण के गले में तलवार के बदले पुष्पों की माला हो गयी, तथापि राजकुमार तो मौनरूप से ध्यान में ही थे।

ऐसा चमत्कार देखकर चोर को पश्चाताप हुआ। उसने राजा से कहा कि मैं हार का चोर हूँ, मैंने ही हार की चोरी की थी, यह राजकुमार तो निर्दोष हैं। इस बात को सुनकर राजा ने राजकुमार से क्षमा माँगी और राजमहल में आने को कहा।

परन्तु वैरागी वारिषेणकुमार ने कहा —पिताजी! इस असार संसार से अब जी भर गया है; राजपाट में कहीं भी मेरा मन नहीं लगता, मेरा चित्त तो एक चैतन्यस्वरूप आत्मा को ही साधने में

www.vitragvani.com

मग्न है, अब मैं दीक्षा ग्रहण करके मुनि होऊँगा। ऐसा कहकर एक मुनिराज के पास जाकर दीक्षा ग्रहण की और आत्मा को साधने में मग्न हो गए।

अब, राजमन्त्री का पुत्र पुष्पडाल था, वह बचपन से ही वारिषेण का मित्र था और उसका विवाह अभी कुछ दिन पहले हुआ था; उसकी स्त्री बहुत सुन्दर नहीं थी। एकबार वारिषेण मुनि घूमते-घूमते पुष्पडाल के यहाँ पहुँचे और पुष्पडाल ने विधिपूर्वक आहारदान दिया... इस अवसर पर अपने मित्र को धर्म प्राप्त कराने की भावना मुनिराज को जागृत हुई। आहार करके मुनिराज वन की ओर जाने लगे, विनयवश पुष्पडाल भी उनके पीछे-पीछे गया। कुछ दूर चलने के बाद उसको ऐसा लगा कि अब मुनिराज मुझे रुकने को कहें और मैं घर पर जाऊँ, लेकिन मुनिराज तो चले ही जाते हैं तथा मित्र से कहते ही नहीं कि अब तुम रुक जाओ!

पुष्पडाल को घर पहुँचने की आकुलता होने लगी। उसने मुनिराज को स्मरण दिलाने के लिए कहा कि बपचन में हम इस तालाब और आम के पेड़ के नीचे साथ खेलते थे, यह वृक्ष गाँव से दो-तीन मील दूर है, हम गाँव से बहुत दूर आ गए हैं।

— यह सुनकर भी वारिषेण मुनि ने उसे रुक जाने को नहीं कहा। अहा! परम हितैषी मुनिराज, मोक्षमार्ग को छोड़कर संसार जाने कैसे कहें? मुनिराज की तो यही भावना है कि मेरा मित्र भी मोक्षमार्ग में मेरे साथ ही आये —

हे सखा, चल न हम साथ चलें मोक्ष में,
छोड़े परभाव को झूलें आनन्द में;

www.vitragvani.com

जाऊँ मैं अकेला और तुझे छोड दूँ?
चल न तू भी मेरे साथ ही मोक्ष में।

अहा, मानों अपने पीछे-पीछे चलनेवाले को मोक्ष में ले जा रहे हों — इस प्रकार परम निस्पृहता से मुनि तो आगे ही आगे चले जा रहे हैं। पुष्पडाल भी सङ्कोचवश उनके पीछे-पीछे चला जा रहा है।

चलते-चलते वे आचार्य महाराज के पास पहुँचे और वारिषेण-मुनि ने कहा — प्रभो! यह मेरा बचपन का मित्र है, और संसार से विरक्त होकर आपके पास दीक्षा लेने आया है। आचार्य महाराज ने उसे निकट भव्य जानकर दीक्षा दे दी। अहा, सच्चा मित्र तो वही है जो जीव को भव-समुद्र से पार करे।

मित्र के आग्रहवश पुष्पडाल यद्यपि मुनि हो गया और बाह्य में मुनि के योग्य क्रियायें भी करने लगा, परन्तु उसका चित्त अभी भी संसार से छूटा न था। भावमुनिपना अभी उसे नहीं हुआ था; प्रत्येक क्रिया करते समय उसे अपने घर की याद आती थी। सामायिक करते समय भी बार-बार उसे अपनी पत्नी का स्मरण होता था। वारिषेणमुनि उसके मन को स्थिर करने के लिए उसके साथ ही रहकर उसे निरन्तर उत्तम ज्ञान-वैराग्य का उपदेश देते थे, परन्तु पुष्पडाल का मन अभी धर्म में स्थिर नहीं हुआ था।

ऐसा करते-करते 12 वर्ष बीत गए। एकबार वे दोनों मुनिवर महावीर भगवान के समवसरण में बैठे थे, उस समय इन्द्रों ने भगवान की स्तुति करते हुए कहा कि — हे नाथ! इस राज-पृथ्वी को छोड़कर आप मुनि हुए, जिससे पृथ्वी अनाथ होकर आपके विरह में झूरती है और उसके आँसू इस नदी के रूप में बह रहे हैं।

www.vitragvani.com

अहा! इन्द्र ने तो स्तुति द्वारा भगवान के वैराग्य की स्तुति की लेकिन जिसका चित्त अभी वैराग्य में नहीं लगा था, उस पुष्पडाल को तो वह श्लोक सुनकर ऐसा लगा कि अरे! मेरी स्त्री भी इस पृथ्वी की भाँति 12 वर्ष से मेरे बिना दु:खी होती होगी। मैंने बारह वर्ष से उसका मुँह भी नहीं देखा, मुझे भी उसके बिना चैन नहीं पड़ता; इसलिए चलकर उसकी खबर ले आऊँ। कुछ समय और उसके साथ रहकर फिर दीक्षा ग्रहण कर लूँगा।

— ऐसा विचारकर पुष्पडाल तो किसी से पूछे-ताछे बिना घर की घर चल दिया। वारिषेण मुनि उसकी गतिविधि को समझ गये; हृदय में मित्र के प्रति धर्मवात्सल्य की भावना जागृत हुयी कि किसी प्रकार मित्र को धर्म में स्थिर करना चाहिए। — ऐसा विचार कर वह भी उसके साथ चल दिए, और उसे साथ लेकर अपने राजमहल में आये।

मित्रसहित अपने पुत्र को महल में आया देखकर चेलना रानी को आश्चर्य हुआ कि क्या वारिषेण, मुनिदशा का पालन न कर सकने से वापिस आया है। — ऐसा उन्हें सन्देह हुआ। उसकी परीक्षा के लिए एक सोने का आसन और एक लकड़ी का आसन रखा, लेकिन वैरागी वारिषेणमुनि तो वैराग्यपूर्वक लकड़ी के आसन पर बैठ गये। इससे विचक्षण चेलनादेवी समझ गयी कि पुत्र का मन तो वैराग्य में दृढ़ है, उसके आगमन का अन्य कोई प्रयोजन होगा।

वारिषेणमुनि के आगमन से गृहस्थाश्रम में रही हुईं 32 रानियाँ उनके दर्शन करने को आयीं। राजमहल का अद्भुत वैभव और ऐसी सुन्दर 32 रानियों को देखकर पुष्पडाल तो आश्चर्य में पड़

www.vitragvani.com

गया, कि अरे! ऐसा राजवैभव और ऐसी 32 रानियों के होने पर भी राजकुमार उनकी ओर देखते ही नहीं। उनका त्याग कर देने के बाद उनका स्मरण भी नहीं करते। आत्मसाधना में अपना चित्त जोड़ दिया है। वाह, धन्य है इन्हें! और मैं एक साधारण स्त्री का मोह भी नहीं छोड़ सकता। अरे! मेरा बारह-बारह वर्ष का साधुपना व्यर्थ गया।

वारिषेणमुनि ने पुष्पडाल से कहा — हे मित्र! अब भी तुझे संसार का मोह हो तो तू यहीं रुक जा और इस वैभव का उपभोग कर! अनादि काल से जिस संसार को भोगते हुए तृप्ति न हुयी, उसे तू अब भी भोगना चाहता है, तो ले, तू इस सबका उपभोग कर। वारिषेणमुनि की बात सुनकर पुष्पडाल अत्यन्त लज्जित हुआ, उसकी आँखें खुल गईं और उसका आत्मा जागृत हो गया।

राजमाता चेलना सब परिस्थिति समझ गईं और पुष्पडाल को धर्म में स्थिर करने हेतु बोली — अरे मुनिराज! आत्मा-साधना का ऐसा अवसर बारम्बार प्राप्त नहीं होता; इसलिए तुम अपना चित्त मोक्षमार्ग में लगाओ। यह सांसारिक भोग तो इस जीव ने अनन्त बार भोगे हैं, इनमे किञ्चित् सुख नहीं है; इसलिए इनका मोह छोड़कर मुनिधर्म में अपने चित्त को स्थिर करो।

वारिषेण मुनिराज ने भी ज्ञान-वैराग्य का सुन्दर उपदेश दिया और कहा कि हे मित्र! अब अपने चित्त को आत्मा की आराधना में दृढ़ करो और मेरे साथ मोक्षमार्ग में चलो।

पुष्पडाल ने कहा — प्रभो! आपने मुझे मुनिधर्म से डिगते हुए बचाया है, और सच्चा बोध देकर मोक्षमार्ग में स्थिर किया है; अतः

www.vitragvani.com

आप सच्चे मित्र हैं। आपने धर्म में स्थितिकरण करके महान उपकार किया है। अब मेरा मन सांसारिक भोगों से वास्तव में उदास होकर आत्मा के रत्नत्रयधर्म की आराधना में स्थिर हुआ है। अब मुझे स्वप्न में भी इस संसार की इच्छा नहीं है। अब तो अन्तर में लीन होकर आत्मा के चैतन्यवैभव की साधना करूँगा।

इस प्रकार प्रायश्चित करके पुष्पडाल फिर से मुनिधर्म में स्थिर हुआ और दोनों मुनि, वन की ओर चल दिए।

(वारिषेण मुनिराज की कथा हमें ऐसी शिक्षा देती है कि — कोई भी साधर्मी-धर्मात्मा कदाचित् शिथिल होकर धर्ममार्ग से डिगता हो तो उसका तिरस्कार न करके, प्रेमपूर्वक उसे धर्ममार्ग में स्थिर करना चाहिए। सर्व प्रकार से उसकी सहायता करनी चाहिए। धर्म का उल्लास जागृत करके, जैनधर्म की महिमा समझाकर या वैराग्य द्वारा उसे धर्म में स्थिर करना चाहिए। तथा अपने आत्मा को भी धर्म में विशेष-विशेष स्थिर करना चाहिए। कैसी भी प्रतिकूलता आये परन्तु धर्म से नहीं डिगना।) ●

जहाँ दुःख कभी न प्रवेश रुकता,
वहाँ निवास ही राखिये;
सुखस्वरूप निज आत्म को बस,
ज्ञाता होकर झाँकिये॥

www.vitragvani.com

७. वात्सल्य- अङ्ग में प्रसिद्ध
विष्णुकुमार मुनि की कथा

लाखों वर्ष पुरानी मुनिसुव्रत तीर्थङ्कर के समय की यह बात है। उज्जैन नगरी में तब श्रीवर्मा नाम के राजा राज्य करते थे। उनके बलि आदि चार मन्त्री थे; जो धर्म की श्रद्धा से रहित-नास्तिक थे।

एकबार उज्जैन नगरी में सात सौ मुनियों के संघसहित अकम्पनाचार्य पधारे। लाखों नगरजन मुनियों के दर्शनार्थ गए; राजा को भी उनके दर्शनों की अभिलाषा हुई और मन्त्रियों को भी साथ चलने का कहा। यद्यपि बलि आदि मिथ्यादृष्टि मन्त्रियों को जैन मुनियों के प्रति श्रद्धा नहीं थी, परन्तु राजा की आज्ञा होने से उन्हें भी साथ जाना पड़ा।

राजा ने मुनियों को वन्दन किया परन्तु ज्ञान-ध्यान में लीन मुनिराज तो मौन थे। मुनियों की ऐसी शान्ति और निस्पृहता देखकर राजा तो प्रभावित हुआ परन्तु मन्त्रियों को अच्छा नहीं लगा; वे दुष्टभाव से कहने लगे कि—महाराज! इन जैन मुनियों को कुछ भी ज्ञान नहीं है, इसलिए ये मौन रहने का ढोंग करते हैं। —इस प्रकार निन्दा करते हुए चले जा रहे थे कि रास्ते में श्रुतसागर नाम के मुनि मिले, उनसे मुनिसंघ की निन्दा सहन नहीं हुयी, इसलिए मन्त्रियों के साथ वाद-विवाद किया। रत्नत्रयधारक मुनिराज ने अनेकान्त-सिद्धान्त के न्यायों द्वारा मन्त्रियों की कुयुक्तियों का खण्डन करके उन्हें मौन कर दिया। राजा की उपस्थिति में हार जाने से मन्त्रियों को अपमान लगा।

www.vitragvani.com

अपमान तथा क्रोध से भरे हुए वे पापी मन्त्री रात्रि के समय मुनि को मारने गये। ध्यान में लीन मुनिराज पर तलवार उठाकर जहाँ मारने को उद्यत हुए कि वहाँ अचानक उनके हाथ जहाँ के तहाँ रह गए। अरे! प्रकृति भी ऐसी हिंसा नहीं देख सकी। तलवार उठाया हुआ हाथ ज्यों का त्यों रह गया और उनके पैर जमीन से चिपक गए।

प्रातःकाल लोगों ने यह दृश्य देखा। जब राजा को मन्त्रियों की दुष्टता की खबर पड़ी, तब राजा ने उन्हें गधेपर बैठाकर नगर से बाहर निकाल दिया। युद्ध-कला में प्रवीण बलि आदि मन्त्री घूमते-फिरते हस्तिानपुर पहुँचे और वहाँ राजा के मन्त्री बन गए।

हस्तिनापुर नगरी भगवान शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ तथा अरनाथ इन तीर्थ तीर्थङ्करों की जन्मभूमि है। यह घटना जब घटित हुयी, उस समय हस्तिनापुर में चक्रवर्ती के पुत्र पद्मराजा राज्य करते थे। उनके भाई मुनि हो गए थे, उनका नाम विष्णुकुमार था। वे आत्म के ज्ञान-ध्यान में मग्न रहते थे। उन्हें अनेक ऋद्धियाँ प्रगट हो गयी थीं, परन्तु ऋद्धियों के प्रति उनका लक्ष्य नहीं था। उनका लक्ष्य तो केवलज्ञानलब्धि साधने पर केन्द्रित था।

सिंहरथ नाम का एक राजा, हस्तिनापुर के राजा का शत्रु था और बहुत समय से परेशान करता था। पद्मराजा उसे जीत नहीं पाते थे। अन्त में बलि मन्त्रि ने युक्तिपूर्वक उसे जीत लिया। इससे प्रसन्न होकर राजा ने उन्हें वचन माँगने को कहा, लेकिन बलि ने कहा—जब आवश्यकता होगी, तब माँग लेंगे।

इधर अकम्पन आचार्य सात सौ मुनियों के संघसहित देश में विहार करते-करते तथा भव्य जीवों को वीतरागी धर्म का उपदेश

www.vitragvani.com

देते-देते हस्तिनापुर में आए। अकम्पन मुनिराज को देखकर बलि मन्त्री भयभीत हो उठा। उसे डर लगा कि इन मुनियों के द्वारा यदि हमारा उज्जैन का पाप प्रगट हो जाएगा, तो यहाँ से भी राजा हमें अपमानित करके निकाल देगा। क्रोधवश अपने वैर का बदला लेने के लिए वे मन्त्री विचार करने लगे।

अन्त में उन पापी जीवों ने सब मुनियों को जीवित ही जला देने की एक दुष्ट योजना बनायी। राजा के पास जो वचन माँगना बाकी था, वह उन्होंने माँगा और कहा — हे महाराज! हमें एक महान यज्ञ करना है, इसलिए हमें सात दिन के लिए राज्य दीजिए।

अपने वचन का पालन करने के लिए राजा ने उन मन्त्रियों को सात दिन के लिए राज्य सौंप दिया और स्वयं राजमहल में जाकर रहने लगे।

बस! राज्य हाथ में आते ही उन दुष्ट मन्त्रियों ने 'नरबलि यज्ञ' करने की घोषणा की... और जहाँ मुनि विराजमान थे, उनके चारों ओर हिंसा के लिए पशु, दुर्गन्धमय हड्डियाँ, माँस, चमड़े के ढ़ेर लगा दिए और उन्हें प्रज्ज्वलित करके बड़ा कष्टप्रद वातावरण बना दिया। मुनियों के चारों ओर अग्नि की लपटें उठने लगीं और इस प्रकार मुनियों पर घोर उपसर्ग आ पड़ा।

...परन्तु मोक्ष के साधक वीतरागी मुनि! अग्नि के बीच भी शान्ति से आत्मा के वीतरागी अमृतरस का पान कर रहे थे। बाहर भले अग्नि जल रही थी, परन्तु उन्होंने अन्तर में रञ्चमात्र भी क्रोधाग्नि प्रगट न होने दी। अग्नि की लपटें उनके समीप चली आ रही थी; लोगों में चारों ओर हाहाकार मच गया। हस्तिनापुर के

www.vitragvani.com

जैनसंघ को बड़ी चिन्ता और दु:ख हो रहा था। मुनियों का उपसर्ग दूर न हो, तब तक के लिए सब श्रावकों ने अन्न-जल का त्याग कर दिया।

अरे, मोक्ष के साधक सात सौ मुनियों के ऊपर ऐसा घोर उपसर्ग देखकर प्रकृति भी प्रकम्पित हो उठी! आकाश में श्रवण, नक्षत्र मानो काँप रहा हो! — ऐसा एक क्षुल्लकजी ने देखा और उनके मुख से हाहाकार निकल पड़ा। उन्होंने आचार्य से बात की। आचार्य महाराज ने निमित्तज्ञान से जानकर कहा कि —अरे! इस समय हस्तिनापुर में सात सौ मुनियों के संघ पर बलिराजा घोर उपसर्ग कर रहा है और मुनियों का जीवन भय में है।

क्षुल्लकजी ने पूछा — प्रभो! उन्हें बचाने का कोई उपाय?

आचार्य ने कहा — हाँ, विष्णुकुमार मुनि उनका उपसर्ग दूर कर सकते हैं, क्योंकि उन्हें ऐसी विक्रियाऋद्धि प्रगट हुई है कि वे अपना रूप जितना बनाना चाहें बना सकते हैं, परन्तु वे अपनी आत्मसाधना में लीन हैं, उन्हें अपनी ऋद्धि की और मुनियों के उपसर्ग की खबर भी नहीं है।

यह बात सुनकर आचार्य की आज्ञा लेकर क्षुल्लकजी शीघ्र ही विष्णुकुमार मुनि के पास गए और उन्हें सारा वृत्तान्त सुनाया तथा प्रार्थना की कि हे नाथ! आप विक्रियाऋद्धि द्वारा मुनियों के इस उपसर्ग को शीघ्र दूर करें।

यह बात सुनते ही विष्णुकुमार मुनि के अन्तर में सात सौ मुनियों के प्रति परम वात्सल्यभाव प्रगट हुआ। विक्रियाऋद्धि की परीक्षा हेतु उन्होंने अपना हाथ लम्बा किया तो वह मानुषोत्तर पर्वत तक समस्त मनुष्यलोक में फैल गया। वे शीघ्र ही हस्तिनापुर आ

www.vitragvani.com

पहुँचे और अपने भाई से — जो कि हस्तिानपुर का राजा था — कहा–अरे, भाई! तेरे राज्य में यह क्या अनर्थ हो रहा है ?

पद्मराजा ने कहा — प्रभो! मैं लाचार हूँ, अभी मेरे हाथ में शासन की बागडोर नहीं है।

अपने भाई से सारी कहानी सुनकर विष्णुकुमार मुनि ने सात सौ मुनियों की रक्षा के हेतु कुछ समय के लिए मुनिपना छोड़कर एक वामन (ठिगने) ब्राह्मण पण्डित का रूप धारण किया और बलिराजा के पास जाकर अत्यन्त मधुर स्वर में उत्तम श्लोक बोलने लगे।

बलिराजा उनके दिव्य रूप और मधुर वाणी से अत्यन्त प्रभावित हुआ और कहने लगा कि आपने आकर हमारे यज्ञ की शोभा में वृद्धि की है, जो चाहें माँग लें; —ऐसा कहकर बलिराजा ने विद्वान ब्राह्मण का सम्मान किया।

अहा! अचानक मुनिवर, जगत के साथ... उन्हें अपने सात सौ साधर्मियों की रक्षा के हेतु याचक बनना पड़ा। ऐसा है धर्म वात्सल्य! मूर्ख राजा को कहाँ खबर थी कि वह जिन्हें याचना करने को कह रहा था, वे ही मुनिराज उसे धर्म प्रदान करके हिंसा के घोर पाप से छुड़ायेंगे।

ब्राह्मण वेषधारी विष्णुकुमार मुनि ने राजा से तीन डग धरती माँगी। राजा ने प्रसन्न होकर धरती माप लेने को कहा। बस, हो चुका!

राजा ऊपर देखता है इतने में तो विष्णुकुमार ने अपने वामन शरीर के बदले विराट रूप धारण कर लिया। विष्णुकुमार मुनि का विराटस्वरूप देखकर राजा चकित हो गया। उसकी समझ में नहीं आया कि यह क्या हो रहा है।

www.vitragvani.com

विराटस्वरूप विष्णु मुनिराज ने एक पैर मनुष्यलोक के एक छोर पर और दूसरा दूसरे छोर पर रखकर बलिराजा से कहा — बोल, अब तीसरा पैर कहाँ रखूँ? तीसरा पैर रखने की जगह दे, नहीं तो तेरे सिर पर रखकर तुझे पाताल में उतारे देता हूँ।

मुनिराज की विक्रियाऋद्धि से चारों ओर कोलाहल मच गया, सारा ब्रह्माण्ड काँप उठा। देवों और मनुष्यों ने आकर विष्णुकुमार मुनि की स्तुति की और विक्रिया समेट लेने की प्रार्थना की। बलि-राजा तथा चारों मन्त्री मुनिराज के चरणों में गिरकर अपनी भूल की क्षमा माँगने लगे — प्रभु क्षमा करो! हमने आपको पहिचाना नहीं।

विष्णु मुनिराज ने क्षमापूर्वक उन्हें अहिंसाधर्म का स्वरूप समझाया तथा जैन मुनियों की वीतरागी क्षमा की महिमा बतलाकर आत्महित का परम उपदेश दिया। उसे सुनकर उनका हृदय-परिवर्तन हो गया और घोर पाप की क्षमा माँग कर उन्होंने आत्महित का मार्ग ग्रहण किया। अहा! विष्णुकुमार की विक्रियाऋद्धि बलि आदि मन्त्रियों को धर्म-प्राप्ति का कारण बन गयी। उन जीवों ने अपने परिणाम क्षणभर में बदल लिए। अरे! ऐसे शान्त-वीतरागी मुनियों पर हमने ऐसा उपसर्ग किया, हमें धिक्कार है! ऐसे पश्चातापपूर्वक उन्होंने जैनधर्म अङ्गीकार किया। इस प्रकार मुनिराज ने बलिराजा आदि का उद्धार किया और सात सौ मुनियों की रक्षा की।

चारों ओर जैनधर्म की जय-जयकार होने लगी। शीघ्र ही वह हिंसक यज्ञ रोक दिया गया। मुनियों का उपसर्ग दूर हुआ और श्रावक परम भक्तिभाव से मुनियों की सेवा में लग गए। विष्णुकुमार ने स्वयं वहाँ जाकर मुनियों की वैयावृत्त्य की और मुनियों ने भी विष्णुकुमार के वात्सल्य की प्रशंसा की। अहा! वात्सल्य का वह

www.vitragvani.com

दृश्य अद्भुत था। बलि आदि मन्त्रियों ने भी मुनियों के पास जाकर क्षमा माँगी और भक्तिभाव से मुनियों की सेवा की।

उपसर्ग दूर हुआ, इसलिए वे मुनि आहार के लिए हस्तिनापुर नगरी में पधारे। हजारों श्रावकों ने अतिशय भक्तिपूर्वक मुनियों को आहारदान दिया; उसके बाद श्रावकों ने भोजन ग्रहण किया। देखो, श्रावकों को भी कितना धर्म प्रेम था! धन्य वे श्रावक और धन्य वे साधु।

जिस दिन यह घटना हुयी, उस दिन श्रावण शुक्ला पूर्णिमा थी। विष्णुकुमार मुनिराज के महान वात्सल्य के कारण सात सौ मुनियों की रक्षा हुयी, जिससे यह दिवस रक्षापर्व के रूप में प्रसिद्ध हुआ और वह आज भी मनाया जाता है।

मुनिरक्षा का कार्य पूर्ण होने पर श्री विष्णुकुमार ने वेष छोड़कर फिर से निर्ग्रन्थ मुनिदशा धारण की और ध्यान द्वारा अपने आत्मा को शुद्ध रत्नत्रयधर्म के साथ अभेद करके ऐसा वात्सल्य किया कि अल्प काल में केवलज्ञान प्रगट करके मोक्ष पधारे।

[विष्णुकुमार मुनिराज की कथा हमें ऐसी शिक्षा देती है कि धर्मात्मा साधर्मीजनों को अपना बन्धु मानकर उनके प्रति अत्यन्त प्रीतिरूप वात्सल्य रखना चाहिए, उनके प्रति आदर-सम्मानपूर्वक हर प्रकार से उनकी सहायता करनी चाहिए, उन पर कोई सङ्कट आ गया हो तो अपनी शक्ति अनुसार उसका निवारण करना चाहिए। इस प्रकार धर्मात्मा के प्रति अत्यन्त स्नेहेपूर्ण बर्ताव करना चाहिए। जिन्हें धर्म का प्रेम हो, उन्हें धर्मात्मा के प्रति प्रेम होता है; धर्मात्मा के ऊपर आया संकट वे देख नहीं सकते।] ●

www.vitragvani.com

८. प्रभावना - अङ्ग में प्रसिद्ध
वज्रकुमार मुनि की कथा

अहिछत्रपुर में सोमदत्त नाम के मन्त्री थे; उनकी सगर्भा पत्नी को आम खाने की इच्छा हुई। वह मौसम आम पकने का नहीं था, तथापि मन्त्री ने वन में जाकर खोज की तो सारे वन में एक आम वृक्ष पर सुन्दर आम झूल रहे थे। उन्हें आश्चर्य हुआ। उस वृक्ष के नीचे एक जैन मुनि बिराजमान थे, उसके प्रभाव से वृक्षपर आम पक गए थे। मन्त्री ने भक्तिपूर्वक नमस्कार करके मुनिराज से धर्म का स्वरूप सुना तो अत्यन्त वैराग्यवश उसी समय दीक्षा लेकर मुनि हो गए और पर्वतपर जाकर आत्मध्यान करने लगे।

सोमदत्त मन्त्री की स्त्री यक्षदत्ता ने पुत्र को जन्म दिया। वह पुत्र को लेकर मुनिराज के पास गयी, लेकिन संसार से विरक्त मुनि ने उसके सन्मुख दृष्टि न की, अतः क्रोधपूर्वक वह स्त्री बोली-यदि साधु होना था तो तुमने विवाह क्यों किया? मेरा जीवन क्यों बिगाड़ा? अब इस पुत्र का पालन-पोषण कौन करेगा? ऐसा कहकर मुनिराज के चरणों में बालक को रखकर चली गयी। इसी बालक का नाम वज्रकुमार है। उसके हाथ में वज्र का चिह्न था।

अरे! वन में बालक की रक्षा कौन करेगा?

ठीक उसी समय दिवाकर नाम का विद्याधर राजा तीर्थयात्रा करने को निकला, वह मुनि को वन्दन करने आया, और अत्यन्त तेजस्वी उस वज्रकुमार बालक को देखकर उठा लिया। ऐसे पुत्ररत्न की प्राप्ति होने से रानी भी प्रसन्न हुयी। वे उस बालक को अपने

www.vitragvani.com

साथ ले गए और पुत्र की तरह उसका पालन-पोषण करने लगे। भाग्यवान जीवों को कोई न कोई योग प्राप्त हो ही जाता है।

वज्रकुमार युवा होने पर पवनवेगा नाम की विद्याधरी के साथ उसका विवाह हुआ और उसने बहुत से राजाओं को जीत लिया।

कुछ समय बाद दिवाकर राजा की रानी ने एक पुत्र को जन्म दिया। अपने ही पुत्र को राज्य मिले, इस लालसा में वह वज्रकुमार से द्वेष करने लगी। एकबार वह गुस्से में बोली कि अरे! यह किसका पुत्र है ? यहाँ आकर मुझे व्यर्थ हैरान करता है।

यह सुनते ही वज्रकुमार का मन उदास हो गया। उसे विश्वास हो गया कि मेरे सच्चे माता-पिता दूसरे हैं। अत: उसने विद्याधर से वास्तविक स्थिति जान ली। उसे ज्ञात हुआ कि मेरे पिता दीक्षा ग्रहण करके मुनि हो गए हैं। वह शीघ्र ही विमान में बैठकर मुनि के पास गया।

ध्यानस्थ सोमदत्त मुनिराज को देखकर वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ, उसका चित्त शान्त हुआ, विचित्र संसार के प्रति उसे वैराग्य उत्पन्न हुआ और पिता के पास से मानों धर्म का उत्तराधिकार माँगता हो! — ऐसी परम भक्ति से वन्दन करके कहा - हे पूज्य देव! मुझे भी साधुदीक्षा दो! इस संसार में मुझे आत्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ भी सार नहीं लगता।

दिवाकर देव ने उसे दीक्षा न लेने के लिए बहुत समझाया, परन्तु वज्रकुमार ने दीक्षा ही ग्रहण की; वे साधु होकर आत्मा का ज्ञान-ध्यान करने लगे और देश-देशान्तर में घूमकर धर्मप्रभावना करने लगे। एकबार उनके प्रताप से मथुरानगरी में धर्मप्रभावना की

www.vitragvani.com

एक महान घटना हुयी। क्या घटना हुयी—उसे देखने के लिए अपनी कथा को मथुरानगरी में ले चलते हैं।

★ ★ ★

मथुरानगरी में एक गरीब बालिका जूठन खाकर पेट भरती थी, उसे देखकर एक अवधिज्ञानी मुनि बोले कि देखो, कर्म की विचित्रता! यही लड़की कुछ समय में राजा की पटरानी होगी।

मुनि की यह बात सुनकर एक बौद्धभिक्षुक उसे अपने मठ में ले गया और उसका पालन-पोषण करने लगा। उसका नाम बुद्धदासी रखा और उसे बौद्धधर्म के संस्कार दिए।

जब वह युवती हुई, तब उसका अत्यन्त सुन्दररूप देखकर राजा मोहित हो गया और उसके साथ विवाह करने की माँग की। परन्तु उस राजा के उर्विला नाम की एक रानी थी जो जैनधर्म का पालन करती थी, इसलिए मठ के लोगों ने कहा कि यदि राजा स्वयं बौद्धधर्म स्वीकार करें और बौद्धदासी को पटरानी बनायें तो हम विवाह कर देते हैं। कामान्ध राजा ने तो बिना विचारे यह बात स्वीकार कर ली। धिक्कार है विषयो को! विषयान्ध जीव सत्यधर्म से भी भ्रष्ट हो जाता है।

अब बुद्धदासी राजा की पटरानी हुयी, अत: वह बौद्धधर्म का बहुत प्रचार करने लगी। एक बार उर्विलारानी जोकि जैनधर्म की परमभक्त थी, उसने प्रति वर्ष की भाँति अष्टाह्निका पर्व में जिनेन्द्र भगवान की विशाल अद्भुत रथयात्रा निकालने की तैयार की, परन्तु बौद्धदासी से यह सहन न हुआ। उसने राजा से कहकर वह रथयात्रा रुकवा दी और बौद्ध की रथयात्रा पहले निकालने को

www.vitragvani.com

कहा। अरे! जैनधर्म के परम महिमा की उसे कहाँ खबर थी? गाय और आक के दूध का अन्तर मन्दाध पुरुष क्या जानेगा?

जिनेन्द्र भगवान की रथयात्रा में विघ्न होने से उर्विलारानी को बहुत दु:ख हुआ और जब तक रथयात्रा नहीं निकलेगी, तब तक के लिए अनशनव्रत ग्रहण करके वह वन में सोमदत्त और वज्रकुमार मुनि की शरण में पहुँची और प्रार्थना करने लगी कि हे प्रभो! जैनधर्म के ऊपर आये हुए संकट को आप दूर करें।

रानी को बात सुनकर वज्रकुमार मुनिराज के अन्तर में धर्म-प्रभावना का भाव जागृत हुआ। इसी समय दिवाकर राजा आदि विद्याधर वहाँ मुनि को वन्दन करके आए; वज्रकुमार मुनि ने कहा —राजन! तुम जैनधर्म के परम भक्त हो और मथुरा नगरी में जैन-धर्म पर सङ्कट आया है, उसे दूर करने में तुम समर्थ हो। धर्मात्माओं को धर्म की प्रभावना का उत्साह होता है, वे तन से -मन से - धन से शास्त्र से - ज्ञान से - विद्या से सर्वप्रकार से जैनधर्म की वृद्धि करते हैं और धर्मात्माओं के कष्टों को दूर करते हैं।

दिवाकर राजा धर्मप्रेमी तो थे ही, और मुनिराज के उपदेश से उन्हें प्रेरणा मिली, शीघ्र ही मुनिराज को नमस्कार करके उर्विलारानी के साथ समस्त विद्याधर माथुरा आये और धामधूमपूर्वक जिनेन्द्रदेव की रथयात्रा निकाली। हजारों विद्याधरों के प्रभाव को देखकर राजा और बौद्धदासी भी आश्चर्यचकित हुए और जैनधर्म से प्रभावित होकर आनन्दपूर्वक उन्होंने जैनधर्म अङ्गीकार करके अपना कल्याण किया तथा सत्यधर्म प्राप्त कराने के लिए उर्विलरानी का उपकार माना। उर्विलारानी ने उन्हें जैन धर्म के वीतरागी देव-गुरु की

www.vitragvani.com

अपार महिमा समझायी। मथुरा नगरी के हजारों जीव भी ऐसी महान प्रभावना देखकर आनन्दित हुए और बहुमानपूर्वक जैनधर्म की उपासना करने लगे। इस प्रकार वज्रकुमार मुनि और उर्विलारानी द्वारा जैनधर्म की महान प्रभावना हुयी।

[वज्रकुमार मुनि की कथा हमें जैनधर्म की सेवा करना और अत्यन्त महिमापूर्वक उसकी प्रभावना करना सिखाती है। तन-मन-धन से, ज्ञान से, श्रद्धा से, सर्वप्रकार से, धर्म के ऊपर आया संकट दूर करके धर्म की महिमा और उसकी वृद्धि करना चाहिए। वर्तमान में तो मुख्यतः ज्ञान-साहित्य द्वारा धर्म-प्रभावना करना योग्य है।] ●

प्रभु! हर्ष और उत्साह तो...

जिस प्रकार शराबी मनुष्य को श्रीखण्ड का स्वाद, गाय के दूध जैसा लगता है; उसी प्रकार जिसने भ्रान्तिरूप शराब पी है - ऐसे अज्ञानियों को विषयों और राग में सुख लगता है; अन्दर भगवान आत्मा में विषयातीत अतीन्द्रिय सुख भरा है, वहाँ वह नजर नहीं करता। भाई! तूने गुरु के उपदेश की अस्वीकृति की है, मरकर तू कहाँ जाएगा? अरे रे! चींटी, कौआ और कुत्ते का यह अवतार! अहो! यह तो एक बार संसार का हर्ष और उत्साह टूट जाए - ऐसी बात है। प्रभु! हर्ष और उत्साह तो अन्दर आनन्दस्वभावी निज आत्मा में करने जैसा है।